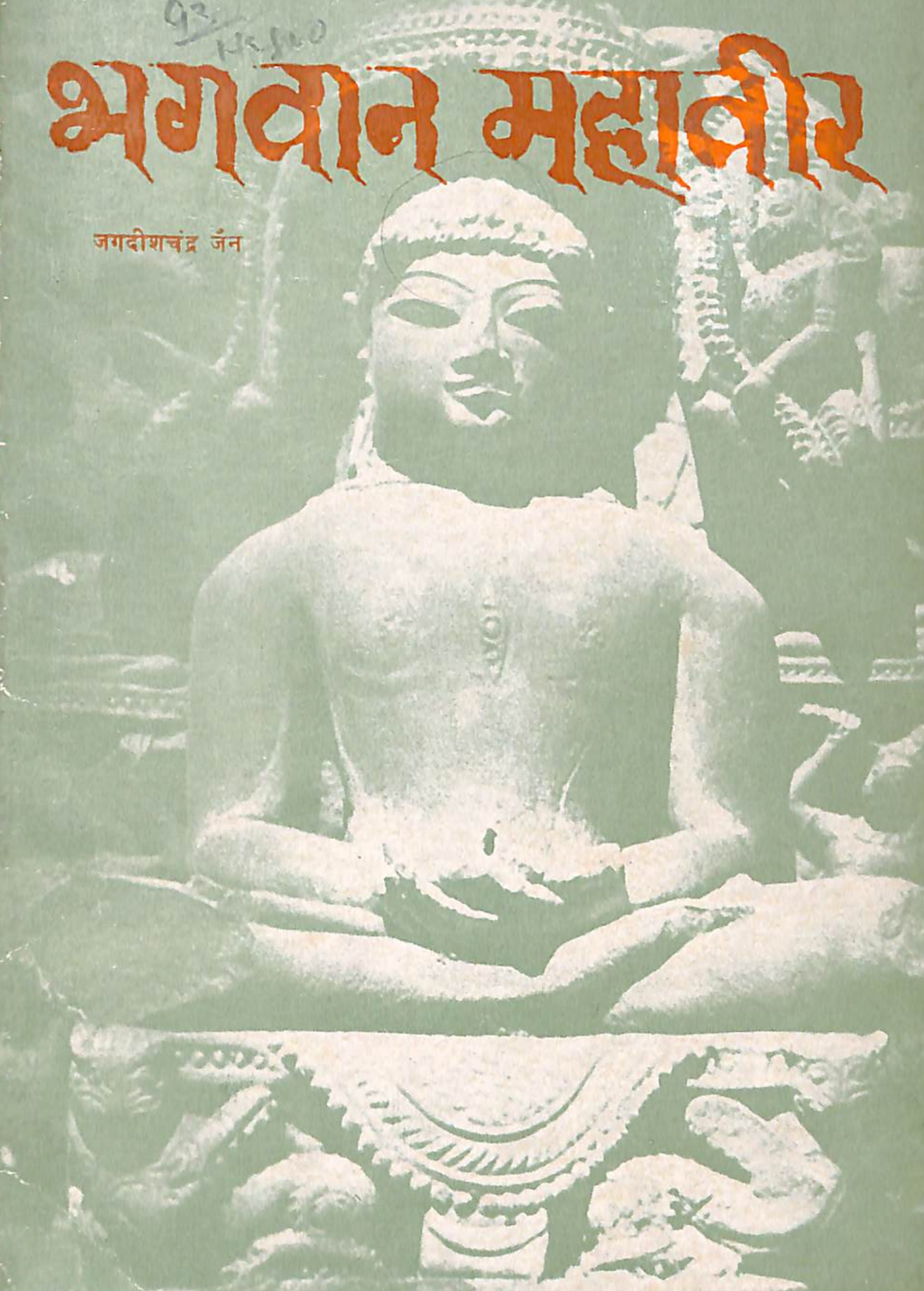


भगवान महावीर

जगदीशचंद्र जैन

भगवान महावीर

जगदीशचन्द्र जैन



नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया
नई दिल्ली

प्रथम संस्करण 1977 (शक 1898)
द्वितीय संशोधित संस्करण 1981 (शक 1903)
तृतीय संस्करण 1982 (शक 1903)
चतुर्थ संस्करण 1985 (शक 1906)

रु० ४.५०

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क, नई दिल्ली 110016 द्वारा प्रकाशित और कपूर आर्ट प्रेस, ए 38/3 मायापुरी, नई दिल्ली 110064 द्वारा मुद्रित।

प्रस्तावना

ईसा-पूर्व छठी शताब्दी के आसपास का काल भारत में ही नहीं, एशिया महाद्वीप के इतिहास में अत्यंत महत्पूर्ण है। बौद्धिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में एक अजीब हलचल मची हुई थी। कोई रास्ता नज़र नहीं आ रहा था, बौद्धिक और मानसिक उलझनों से बाहर निकलने के लिए। अंध-विश्वास, पर अवलंबन, अकर्मण्यता और स्वार्थपरता का बोलबाला था चारों ओर। इन्हीं परिस्थितियों में यूनान में सुकरात ने, फारस में ज़र-थुस्त्र ने, चीन में कंफ्यूशियस ने और फिलिस्तीन में यहूदी विचारकों ने जन्म लिया। भारत में महावीर और बुद्ध जैसी विभूतियां जन्मीं।

महावीर ने उत्तर बिहार को अपने जन्म से पवित्र किया था। अपने कर्तव्य से लोग विमुख हो रहे थे। अपने हित और अहित की समझ उन्हें नहीं रह गयी थी। अंधविश्वास का साम्राज्य छाया हुआ था। लोग पुरुषार्थ खो बैठे थे, स्वार्थ की सिद्धि मुख्य हो गयी थी। आपसी कलह, ईर्ष्या और द्वेष में वृद्धि हो रही थी। सामान्य-जन के प्रति उपेक्षा का भाव बढ़ रहा था, ऊंच-नीच की भावना जोर पकड़ रही थी। धन और सत्ता ही जीवन की संपन्नता मानी जाने लगी थी।

महावीर के अंतस्तल में जन-कल्याण की भावना जागी—दूसरों के लिए कुछ करने से पहले क्यों न अपने-आपको योग्य बनाया जाये? क्यों न अपनी इच्छाओं पर अंकुश लगा कर दूसरों का हित साधा जाये? संसार में सुख एवं भोग-विलास के साधन गिने-चुने हैं, इसलिए जब तक अपने निजी सुख एवं भोग-विलास के साधनों का हम दूसरों के साथ बंट-वारा नहीं करते—दूसरे के हिस्से पर कब्जा करने के अधिकार का त्याग नहीं करते, तब तक दूसरे लोग कैसे सुखी बन सकते हैं? यदि हम ऐसा नहीं कर सकते तो दूसरों को कष्ट पहुंचता है और कष्ट पहुंचाना हिंसा है।

महावीर दृढ़ निश्चय के साथ अपने कर्तव्य में जुट गये। सबसे पहले उन्होंने स्वावलंबी बनने की—पुरुषार्थी होने की—शिक्षा दी। अच्छे या बुरे कर्म का फल हर हालत में भोगना ही पड़ता है—उससे छुटकारा मिलने वाला नहीं। मनुष्य अपने भाग्य का विधाता स्वयं है—वह जो चाहे बन सकता है और जो चाहे कर सकता है। फिर आत्मविश्वास खोकर हम दूसरे के भरोसे क्यों बैठे रहें ?

यदि कर्मों का फल भोगना आवश्यक है तो दूसरे को दुःख पहुंचाने वाला कर्म हम हर्गिज न करें। मनुष्य अपने विचारों और कर्मों में पूर्ण स्वतंत्र तभी हो सकता है जब वह दूसरे की धन-संपत्ति पर नजर डालने अथवा दूसरे का हक हड़प लेने की मनोवृत्ति को त्याग दे। इसके लिए अपने ऊपर नियंत्रण रखने, अपनी इंद्रियों को जीतने और अपनी काया को कसने की आवश्यकता है। मनुष्य की इच्छा आकाश के समान अनंत है, इसलिए यदि कैलाश पर्वत-जितने, सोने-चांदी के अनगिनत पर्वत भी खड़े हो जायें तो भी उसकी इच्छा तृप्त नहीं कर सकते।

किसी चीज का सम्यक् ज्ञान होना बहुत जरूरी है। सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए पूर्वाग्रह से—पहले से निर्धारित मान्यताओं से—मुक्त होना आवश्यक है। कोई बात सही तौर पर हम उसी वक्त समझ सकते हैं जब कि वक्ता के दृष्टिकोण को ठीक-ठीक जान सकें। ऐसा न होने से कितनी ही बार हमें धोखा हो जाता है, गलतफहमी हो जाती है जो मत-भेद अथवा मनमुटाव का कारण बनती है। अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सोचने से पता लगता है कि सभी राष्ट्र दुनिया में शांति कायम रखने की इच्छा रखते हैं, लेकिन फिर भी युद्ध लड़े ही जाते हैं। ऐसा क्यों होता है ? गलतफहमी के कारण, स्वार्थ-लिप्सा की प्रबलता के कारण, अपनी महत्वा-कांक्षाओं पर नियंत्रण न रखने के कारण।

दुर्भाग्य से भगवान महावीर की जीवनचर्या संबंधी घटनाओं का कोई सर्वमान्य विवरण जैन ग्रंथों में उपलब्ध नहीं है। फिर भी, महावीर का जो अत्यंत संक्षिप्त जीवन-चरित श्वेतांबर एवं दिगंबर प्राचीन ग्रंथों में अवशिष्ट रह गया है, तथा शास्त्रों में उनके जो मूल्यवान उपदेश संग्रहीत

हैं, उनके आधार-पर हम महावीर की जीवनी एवं उनकी शिक्षाओं को प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहे हैं। आशा है, उनका जीवन और उनके दीर्घकालीन अनुभवों पर आधारित उनकी शिक्षाएं हमारे मार्ग-दर्शन के लिए उपयोगी सिद्ध होंगी।

—डा. जगदीशचन्द्र जैन

विषय-सूची

1. महावीर-कालीन श्रमण परंपरा के अनुयायी अन्य धर्माचार्य

जैन एवं बौद्धों के प्राचीन साहित्य में श्रमण, परिव्राजक और तापस परंपरा के ऐसे अनेक चिंतकों और विचारकों के नाम आते हैं जिन्होंने वेद, ईश्वर, यज्ञ-विहित हिंसा, वर्ण-जाति तथा वैदिक आचार-विचारों को अस्वीकार करके युग के अनुकूल नये चिंतन को आगे बढ़ाने में योगदान दिया।

बौद्धों के प्राचीन पालि ग्रंथों में ब्राह्मण परंपरा के विरोधी श्रमण धर्म के अनुयायी छह यशस्वी धर्माचार्यों के नाम विशेष रूप से उल्लिखित हैं—पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल, अजित केसकंबल, पकुध कच्चायन, संजय बेलट्ठिपुत्त और निगंठ नातपुत्त (निर्ग्रंथ ज्ञातृपुत्र महावीर)। धर्म के इन उन्नायकों को संघ के स्वामी, गण के आचार्य, ज्ञानी, यशस्वी, तीर्थंकर, लोक-सम्मानित, अनुभवी तथा चिर काल से दीक्षित कहा गया है। निश्चय ही गौतम बुद्ध को मिलाकर ये सब नायक खूब ही प्रभावशाली रहे होंगे तथा बिहार की भूमि इनकी ज्ञान-गरिमा से उजागर हो उठी होगी।

श्रमण परंपरा के अनुयायी होने से ये धर्माचार्य संयम, तप और त्याग का उपदेश देते तथा घूम-घूमकर अपने धर्म का प्रचार करते। कभी राजगृह, कभी नालंदा, कभी वैशाली, कभी मिथिला और कभी गांवों और कस्बों में अपने संघ के साथ भ्रमण करते हुए ये दिखाई पड़ते। धर्माचार्यों का आगमन सुन अंग-मगध की प्रजा फूली न समाती। सब अपनी-अपनी शंकाएं लेकर उपस्थित होते, प्रश्नोत्तर होते और शंकाओं का समाधान किया जाता। अंत में जो कोई उपस्थित श्रोताओं को अपनी युक्ति-

प्रयुक्तियों से प्रभावित करता या किसी चमत्कार विशेष का प्रदर्शन कर सकता, वह विजयी कहा जाता। लोक में उसकी मान-प्रतिष्ठा होती और भोजन-पान आदि से उसका सत्कार किया जाता।

दुर्भाग्य से निगंठ नातपुत्त और गौतम बुद्ध को छोड़कर उपर्युक्त धर्माचार्यों में से किसी का भी साहित्य उपलब्ध नहीं और साहित्य के अभाव में हम उनके सिद्धांतों के यथार्थ ज्ञान से वंचित ही रह जाते हैं। बौद्ध और जैन ग्रंथों में जो थोड़ा-बहुत इनका परिचय दिया है, उसे सर्वांश में सत्य नहीं माना जा सकता।

मंखलिपुत्र गोशाल का जो विस्तृत विवरण श्वेतांबर जैन-आगमों में मिलता है, उससे पता लगता है कि गोशाल एक प्रभावशाली धर्माचार्य रहे होंगे। आजीवक संप्रदाय के वे एक प्रमुख तीर्थंकर थे। श्रावस्ती (सहेत-महेत, जिला गोंडा) उनके अनुयायियों का केंद्र था। आजीवक संप्रदाय के बारह प्रमुख उपासक थे जो गोशाल को अपना अरिहंत देव मानते थे। अपने माता-पिता की वे सेवा-शुश्रूषा करते, पांच उदुंबर फलों[1] का भक्षण न करते, बिना बधिया किये हुए और बिना नाक-विंधे बैलों द्वारा व्यापार करते तथा हिंसाविहीन व्यापार से आजीविका चलाते। गोशाल निमित्तशास्त्र (भविष्य ज्ञान) के पंडित थे। पार्श्वनाथ के शिष्यों से गोशाल ने इस विद्या की शिक्षा ग्रहण की थी। दिगंबर संप्रदाय में भी गोशाल को पार्श्वनाथ की परंपरा का अनुयायी कहा गया है। श्वेतांबर आगमों के अनुसार गोशाल महावीर के तपस्वी जीवन में उनके शिष्य बनकर रहे थे। आगे चलकर किसी बात पर महावीर से मतभेद हो गया और वे उनसे अलग हो गये। तत्पश्चात् दोनों सोलह वर्ष बाद मिले। गोशाल ने अपने आपको जिन घोषित किया। तेजोलेश्या की उन्हें सिद्धि हुई। गोशाल को तपस्वी बताते हुए महावीर ने उनकी तेजोलेश्या की प्रशंसा की। गोशाल ने महावीर पर तेजोलेश्या का प्रयोग किया जिससे उन्हें शारीरिक कष्ट हुआ। महावीर गोशाल की मृत्यु के बाद जीवित रहे।

1. बड़, पीपल, गूलर, पिलखन और काकोदुम्बरी वृक्षों के फल

महावीर की भांति गोशाल भी नग्न रहते थे। आजीवक मत के साधुओं को नग्न रहने, कठोर तपश्चर्या करने और हाथ में भिक्षा ग्रहण करने का आदेश है। आजीवक साधु भोजन के लिए किसी का निमंत्रण स्वीकार न करते तथा उनके उद्देश्य से बनाये हुए भोजन को न लेते।

भगवान बुद्ध ने बालों से बने हुए कंबल से गोशाल की उपमा देते हुए अपने शिष्यों को उससे सावधान रहने का आदेश दिया है। बुद्ध गोशाल को मायावी कहा करते—जैसे कोई धीवर मछलियों को अपने जाल में पकड़ लेता है, उसी प्रकार गोशाल अपनी युक्ति-प्रयुक्तियों से लोगों को अपने मायावी जाल में फंसा लेता।

इस प्रकार के उल्लेख गोशाल के प्रभावशाली व्यक्तित्व की ओर ही लक्ष्य करते हैं। महावीर और गोशाल ने छह वर्ष तक साथ-साथ विचरण किया। इस अवसर पर दोनों के बीच हुए प्रश्नोत्तर और सामयिक घटनाओं के जो उल्लेख जैन-आगमों में मिलते हैं, उनसे भी गोशाल के स्वतंत्र व्यक्तित्व की झलक मिलती है। सम्राट अशोक के शिलालेखों में अशोक द्वारा आजीवक श्रमणों को गुफा दान करने का उल्लेख है। अशोक ने अपने धर्माधिकारियों को बौद्ध, ब्राह्मण और निर्ग्रंथों की भांति आजीवकों की भी देखभाल करने का आदेश दिया था।

इसके अतिरिक्त और भी संप्रदायों और मत-मतांतरों का उल्लेख जैनों और बौद्धों के प्राचीन सूत्रों में मिलता है जिनका अब नाममात्र शेष रह गया है। इससे पता लगता है कि ईसा के पूर्व छठी शताब्दी का काल भारतीय तत्वचिंतन के इतिहास में वैचारिक उथल-पुथल की दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा है जिसमें न केवल उपनिषद्कार ही चिंतन के क्षेत्र में परिवर्तन की मांग कर रहे थे, बल्कि महावीर, बुद्ध तथा अन्य अनेक जाने-अनजाने धर्माचार्य भी परिवर्तन का नारा बुलंद कर रहे थे।

महावीर और बुद्ध, दोनों श्रमण परंपरा के अनुयायी थे। दोनों समकालीन थे। दोनों क्षत्रिय कुल में जन्मे थे। महावीर ज्ञातृपुत्र और बुद्ध शाक्यपुत्र कहे जाते थे। दोनों 'बुद्ध' और 'जिन' नाम से प्रख्यात थे। काशी से दूर, मगध क्षेत्र में दोनों ने जन्म लिया; यह क्षेत्र दोनों की

प्रवृत्तियों का केंद्र बना। सम्राट बिंबसार (श्रेणिक), अजातशत्रु (कूणिक) तथा लिच्छवी और मल्ल गणों का उस समय राज्य था। एक ही नगर और एक ही मुहल्ले में दोनों ने विहार किया था और एक ही कुटुंब में धर्म का उपदेश दिया था। दोनों के अनुयायी परस्पर मिलते, धार्मिक विषयों को लेकर चर्चाएं होतीं और तत्पश्चात् कितनी ही बार एक दूसरे धर्म के अनुयायी एक-दूसरे के विचारों से प्रभावित हो धर्म परिवर्तन कर लेते। धार्मिक तनाव उन दिनों नहीं था, अतएव एक ही परिवार के सदस्यों को जैन, बौद्ध आदि विभिन्न धर्मों को पालने की स्वतंत्रता थी।

महावीर और बुद्ध दोनों ने तपश्चर्या की थी। दोनों वेद को अपौरुषेय-पुरुष के बिना ईश्वर द्वारा प्रतिपादित नहीं स्वीकार करते। वैदिक यज्ञों को फलदायक नहीं मानते। क्रिया की अपेक्षा ज्ञान को मुख्य मानते हैं। दोनों ही ईश्वर को जगत् का कर्ता नहीं स्वीकारते। जाति की अपेक्षा कर्म को मुख्य मानते हैं। दोनों ने अहिंसा को परम धर्म कहा है। दोनों ने संघों की स्थापना की थी। दोनों ने पंडितों की भाषा संस्कृत को छोड़ कर मगध की बोली मागधी में उपदेश किया था। दोनों ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए जगह-जगह परिभ्रमण किया। दोनों के साधुओं को चातुर्मास में गमन करने का निषेध है। जैन और बौद्ध भिक्षुओं ने मगध के बाहर पहुंच कर अपने-अपने धर्म का प्रचार किया था। महावीर ने 72 और बुद्ध ने 80 वर्ष की उम्र में निर्वाण प्राप्त किया। बुद्ध महावीर की अपेक्षा कुछ ज्येष्ठ थे तथा बुद्ध निर्वाण के पश्चात् महावीर का निर्वाण हुआ था।

2. जैन धर्म के तीर्थंकर

जैन-परंपरा में जैन धर्म को शाश्वत माना गया है, इसलिए बीच-बीच में उसका लोप हो जाने पर भी उसका कभी नाश नहीं होता। जैन धर्म में 24 तीर्थंकर माने गये हैं। ऋषभ अथवा ऋषभदेव, जिन्हें आदिनाथ भी कहा गया है, अवसर्पिणी काल के आदि-तीर्थंकर हो गये हैं। उन्हें नीति-नियमों के प्रथम संस्थापक कहा गया है। अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकु वंश में इनका जन्म हुआ। इनके दो रानियां थीं; एक से भरत और ब्राह्मी, और दूसरी से बाहुबलि और सुंदरी का जन्म हुआ। राज्यसिंहासन पर बैठने के पश्चात् उन्होंने गणों की स्थापना की। स्त्री-पुरुषों को कलाओं का उपदेश दिया; आग जला कर भोजन पकाना, बर्तन बनाना, कपड़े बुनना आदि कर्मों की शिक्षा दी। ब्राह्मी को अक्षर-ज्ञान, सुंदरी को गणित, भरत को स्थापत्यकला और बाहुबलि को चित्रकला सिखाई। अंत में भरत को राज्य सौंप श्रमणों की दीक्षा ग्रहण की। तपस्वी जीवन में सुदूर देशों में भ्रमण किया। तत्पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त कर कैलाश पर्वत पर निर्वाण पाया।

ऋषभ के बाद अन्य तीर्थंकर आते हैं। सभी तीर्थंकरों ने क्षत्रिय-कुल में जन्म लिया। अधिकांश तीर्थंकरों का जन्म इक्ष्वाकु वंश में हुआ और सम्मेदशिखर पर उन्होंने निर्वाण लाभ किया। इन तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष---इन पांच कल्याणकों को प्रायः एक ही तरह का एक जैसा वर्णन जैन ग्रंथों में मिलता है। अभी तक प्रथम 22 तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता के प्रमाण नहीं मिले हैं, उल्टे उनके जीवन-काल की लंबी अवधि तथा तीर्थंकरों के बीच का अंतराल आदि बातों पर विचार करने से उनकी परंपरागत पौराणिकता का ही समर्थन होता है।

नेमि अथवा अरिष्टनेमि जैन धर्म के 22वें तीर्थंकर माने गये हैं। जैन

परंपरा में उन्हें यादवों के प्रिय और वासुदेव कृष्ण के चचेरे भाई कहा है। अरिष्टनेमि का जन्म शौर्यपुर (सूरजपुर, जिला आगरा) के महाराजा समुद्रविजय की महारानी शिवा के गर्भ से हुआ था। उनका विवाह राजा उग्रसेन की कन्या राजीमती के साथ होना निश्चित हुआ था। जब वे अपनी बारात लेकर राजीमती को ब्याहने पहुंचे, तो नगर के पास बाड़े में बंधे हुए पशुओं का चीत्कार सुनाई पड़ा। नेमिनाथ को समझने में देर न लगी कि बारातियों के भोजन की सामग्री की यह तैयारी है। उन्हें संसार से वैराग्य हो आया और श्रमण दीक्षा उन्होंने स्वीकार कर ली। गिरनार पर्वत पर उन्होंने निर्वाण पाया।

पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता

पार्श्वनाथ जैन धर्म के 23वें तीर्थंकर हो गये हैं जो अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर से लगभग 250 वर्ष पूर्व, ईस्वी पूर्व 8वीं शताब्दी में, वाराणसी के इक्ष्वाकु वंशीय राजा अश्वसेन के घर वामादेवी के गर्भ से पैदा हुए थे। वे 30 वर्ष गृहस्थाश्रम में रहे, 70 वर्ष साधु जीवन व्यतीत किया तथा घोर तपश्चरण के बाद सम्मेदशिखर पर सिद्धि पाई। अहिच्छत्रा, हस्तिनापुर, श्रावस्ती, साकेत और कौशांबी आदि नगरियों में भ्रमण किया और पश्चिम बंगाल की जातियों में धर्म का प्रचार किया। प्राचीन जैन आगमों में भगवान पार्श्वनाथ को पुरुषों में श्रेष्ठ, लोकपूजित, संबुद्ध, सर्वज्ञ, धर्मतीर्थंकर और जिन आदि विशेषणों से संबोधित किया है।

अपने धर्म को संगठित करने के लिए पार्श्वनाथ ने उसे चार भागों में विभक्त किया था—श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका। संघ की रक्षा के लिए उन्होंने गणधरों—प्रमुख शिष्यों—को नियुक्त किया। पुष्पचूला उनके साध्वी-संघ की प्रमुख गणिनी थी। पार्श्वनाथ के अनेक शिष्यों (पार्श्वापत्यीय) का उल्लेख जैन-आगमों में मिलता है जो महावीर के तपस्वी जीवन में बिहार तथा उसके आसपास की भूमि में विचरण करते थे। पार्श्वनाथ के शिष्य निमित्तशास्त्र के ज्ञाता थे। तुंगिया नगरी (तुंगी-

ग्राम, बिहारशरीफ के पास) पार्श्वनाथ के शिष्यों का केंद्र था जहां वे अपने संघ के साथ विहार करते थे। वाणिज्यग्राम (बनिया, बसाढ़ के पास) में भगवान महावीर और पार्श्वनाथ के शिष्य श्रमण गांगेय के बीच होने वाले संवाद का उल्लेख भगवतीसूत्र (9.32) में मिलता है। गांगेय की शंकाओं का समाधान करते हुए भगवान महावीर ने पार्श्वनाथ को 'पुरुषों में श्रेष्ठ' कहकर उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया है। अंत में गांगेय ने पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म—अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह—त्याग कर महावीर द्वारा प्रतिपादित पांच महाव्रतों—अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को—स्वीकार कर लिया।

कुमारश्रमण केशी पार्श्वनाथ के एक अन्य प्रमुख शिष्य हुए हैं। पूर्व ग्रंथों के ज्ञाता होने से श्रमण संघ में वे प्रतिष्ठित थे। एक बार वे अपने 500 साधुओं के संघ को लेकर श्रावस्ती पधारे। यहां भगवान महावीर के गणधर गौतम इंद्रभूति के साथ उनका जो महत्वपूर्ण वार्तालाप हुआ, वह उत्तराध्ययन सूत्र (23) में सुरक्षित है:

"पार्श्वनाथ ने चार यामों और महावीर ने पांच महाव्रतों का उपदेश दिया है। इसी तरह पार्श्वनाथ ने सचेल धर्म—वस्त्र सहित मुनि धर्म—और महावीर ने अचेल धर्म—वस्त्ररहित मुनि धर्म—का उपदेश दिया है। इस मतभेद का क्या कारण हो सकता है?" केशी ने गौतम इंद्रभूति से प्रश्न किया।

इंद्रभूति ने उत्तर दिया—"वस्तुतः चार याम और पांच महाव्रतों में कोई खास अंतर नहीं। शिष्यों की भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार यह उपदेश है—कोई अमुक प्रकार से तत्व को समझता है और कोई अमुक प्रकार से। भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर दोनों ही महान तपस्वी थे—दोनों एक ही मार्ग के राही हैं, दोनों ही ज्ञान, दर्शन और चरित्र से मोक्ष की सिद्धि मानते हैं। जहां तक वस्त्र धारण करने का प्रश्न है, बाह्य वेष केवल साधन मात्र है, चित्त की शुद्धि मुख्य है जो कि सिद्धि में कारण है।"

इंद्रभूति द्वारा किया हुआ समाधान सुनकर केशी को परम संतोष

हुआ और उन्होंने भगवान महावीर के पांच महाव्रतों को स्वीकार कर लिया। पार्श्वनाथ और महावीर के सिद्धांतों का समन्वयकारी उत्तराध्ययनसूत्र का यह उल्लेख अत्यंत महत्वपूर्ण है। इससे ज्ञात होता है कि किस प्रकार मूल सिद्धांतों की रक्षा करते हुए समय की आवश्यकतानुसार सिद्धांत के व्यावहारिक रूप में परिवर्तन कर दिया गया।

पार्श्वनाथ ने अपने संघ के कठोर अनुशासन पर जोर दिया था। निर्ग्रंथ धर्म में प्रतिपादित तप और संयम के नियमों का पालन करना आसान नहीं था। अनेक श्रमण कठिन तपश्चर्या से घबरा, बीच में ही साधु जीवन का त्याग कर परिव्राजकों की दीक्षा ले लेते अथवा गृहस्थ जीवन में लौट आते। स्थविर मुनिचंद्र पार्श्वनाथ के प्रमुख शिष्य थे। अपनी-अपनी शिष्य मंडली के साथ कुमाराय संनिवेश में वे किसी कुम्हार की शाला में ठहरे हुए थे। मंखलि गोशाल उस समय भगवान महावीर के साथ विचरण कर रहे थे। स्थविर मुनिचंद्र और उसके शिष्यों को परिग्रह सहित देख गोशाल ने महावीर से पूछा कि परिग्रही होने के कारण इन साधुओं को श्रमण निर्ग्रंथों के अनुयायी कैसे कहा जा सकता है ? महावीर ने गोशाल को बताया कि वे साधु पार्श्वनाथ की परंपरा के अनुयायी हैं, अतएव उनका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। उन्होंने कहा कि वे साधु आरंभी हिंसा से मुक्त नहीं हैं, वस्त्र पहनते हैं और मरण के अंत में जिनकल्प (जिन भगवान के समान नग्न रहना) धारण करते हैं। पार्श्वनाथ की श्रमण-परंपरा में स्त्रियां भी दीक्षित होती थीं।

पार्श्वनाथ और उनके शिष्यों ने बिहार तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के क्षेत्रों में भ्रमण किया था। अपनी निर्वाणभूमि सम्मेदशिखर के आसपास पश्चिम बंगाल में पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित निर्ग्रंथ धर्म के चिह्न मिलते हैं। बंगाल के मानभूम, सिंहभूम और लोहरडग्गा आदि स्थानों में सराक (जैन श्रावक) जाति आज भी पार्श्वनाथ की उपासक है। इस जाति के लोग जल छान कर पीते हैं और जीवों की रक्षा के लिए सूर्यास्त होने से पहले ही भोजन कर लेते हैं। बंगाल के बीरभूम और बांकुड़ा आदि जिलों में आषाढ़, सावन, भादों और असौज—इन चार महीनों में, खासकर

सावन और भादों में, मनसा नामक सर्प-देवता की पूजा की जाती है। संभव है कि भगवान पार्श्वनाथ के मस्तक का आभूषण बने हुए नागराज के रूप में धरणेंद्र के साथ इसका संबंध हो। पार्श्वनाथ की निर्वाण-भूमि सम्मेदशिखर को बंगाल की संथाल जाति मारंगबुरू (पहाड़ का देवता) मान, उस पर भैंसे की बलि चढ़ाती है। बंगाल के आजिमगंज, देउलभीरा जिला बांकुडा, कांटाबेनिया (चौबीस परगना) और सुइसा तथा रांची जिले के अगासिया आदि स्थानों की खुदाई में पार्श्वनाथ की प्रतिमाएं मिली हैं। इससे इस प्रदेश में पार्श्व की लोकप्रियता का पता लगता है। खोज करने पर यहां और भी मूल्यवान ऐतिहासिक सामग्री का पता लगना संभव है।

3. बिहार की भूमि में महावीर

(क) वर्धमान की जन्मभूमि वैशाली

प्राकृतिक सुषमा से भरपूर विदेह जनपद की राजधानी वैशाली (आधुनिक बसाढ़) महावीर की जन्मभूमि थी। वज्जी गणतंत्र की प्रमुख नगरी वैशाली में लिच्छवी लोग नागरिकों द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों की सहायता से गणतंत्र प्रणाली द्वारा शासन करते थे। अपने संगठन और अनुशासन के लिए वे प्रसिद्ध थे। वैशाली में गंडकी (गंडक) नदी बहती थी। नदी के तट पर कुंडग्राम अथवा कुंडपुर (आधुनिक बासुकुंड) नाम का उपनगर था जो क्षत्रिय कुंडग्राम और ब्राह्मण कुंडग्राम नाम के दो टोलों में बंटा हुआ था। क्षत्रिय कुंडग्राम में क्षत्रियों और ब्राह्मण कुंडग्राम में ब्राह्मणों की बस्ती थी। क्षत्रिय कुंडग्राम को महावीर ने अपने जन्म से पवित्र किया था। वज्जी देश (चंपारन, मुजफ्फरपुर, दरभंगा और छपरा जिले) के शासक वज्जीसंघ के अंतर्गत विदेह, लिच्छवी, ज्ञातृ, वृज्जि, उग्र, भोग, इक्ष्वाकु और कौरव नामक आठ कुलों में से ज्ञातृकुल में ही महावीर जन्मे थे। बासुकुंड में सैकड़ों वर्षों से लगभग दो एकड़ जमीन ऐसे पड़ी हुई थी जिसे जोतने के काम में नहीं लिया जाता। यही स्थान महावीर की जन्मभूमि कहा जाता है। यहां की ग्रामीण जातियां महावीर को लड्डू-मेवे आदि चढ़ाती हैं। यहां की गोप आदि जातियों में गौतम आदि गोत्र पाये जाते हैं। मांस-भक्षण से ये लोग परहेज करते हैं। वैशाली में पैदा होने के कारण महावीर वैशालीय और ज्ञातृकुल में पैदा होने के कारण ज्ञातृपुत्र कहे जाते थे। लिच्छवी वंश में जन्म लेने के कारण वे प्रियदर्शी थे और उनका व्यक्तित्व आकर्षण पैदा करता था। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ था, जो ज्ञातृकुल के क्षत्रियों के मुखिया थे। वैशाली के सुप्रसिद्ध शासक गणराजाओं के मुखिया चेटक की बहन त्रिशला महावीर की माता

थीं जो विदेहदत्ता अथवा प्रियकारिणी नाम से जानी जाती थीं । महावीर के माता-पिता श्रमणोपासक थे और पार्श्वनाथ के अनुयायी थे ।

जिस रात्रि को महावीर त्रिशला के गर्भ में अवतरित हुए, त्रिशला माता ने अनेक सुंदर स्वप्न देखे । बिस्तर से उठकर वह सिद्धार्थ के पास पहुंची और अपने स्वप्नों को सुनाया । प्रातः काल होने पर सिद्धार्थ ने स्वप्न-फल के जानकार पंडितों को बुलाकर उनसे स्वप्नों का फल पूछा । पंडितों ने भविष्यवाणी की कि उनके घर एक प्रतापी पुत्र का जन्म होगा जो संसार में दिव्य ज्योति का प्रकाश करेगा ।

स्वप्नों का फल जानकर सिद्धार्थ और त्रिशला की खुशी का ठिकाना न रहा । त्रिशला अत्यंत सावधानीपूर्वक अपने गर्भ की रक्षा करने लगी । उठने-बैठने और चलने-फिरने में वह सावधानी रखती, परिमित और पथ्य भोजन करती । चिंता, शोक, दुःख, और भय से दूर रहती और मन को प्रसन्न करने वाली कथा-कहानियों का श्रवण करती ।

इस प्रकार नौ महीने साढ़े सात दिन बीत जाने के बाद त्रिशला माता ने प्रियदर्शन शिशु को जन्म दिया । सब जगह प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी । सेविकाएं दौड़ीं-दौड़ीं सिद्धार्थ के पास पहुंची और जय-विजयपूर्वक बधाई देते हुए पुत्रजन्म का समाचार सुनाया । समाचार सुनकर गणराजा के आह्लाद का ठिकाना न रहा । समाचार वहन करने वाली सेविकाओं का दान गान इत्यादि द्वारा सत्कार किया और उन्हें दासी वृत्ति से सदा के लिए मुक्त कर दिया ।

क्षत्रिय कुंडग्राम को सजाने का आदेश दिया गया । झाड़ू-बुहारू देकर नगर को साफ और स्वच्छ बना दिया गया, सुगंधित जल का छिड़काव हुआ । चूना पोतकर स्वच्छ किए हुए मकानों पर ध्वजाएं फहरा दी गयीं, चंदन-कलश स्थापित किए गए, तोरण लटकाये गए और धूप-बत्तियों की भीनी-भीनी सुगंध से सारा नगर महक उठा । नटों के खेल होने लगे; नर्तकों ने एक से एक सुंदर नृत्य और अभिनय का प्रदर्शन किया, विदूषकों ने अपने हास्य-विनोद से श्रोताओं का मन मोह लिया । कथाओं का आयोजन हुआ, स्तोत्रों का पाठ होने लगा, रास गाये जाने लगे । और एक से

एक सुंदर बाजों-गाजों की कर्णप्रिय ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। इस प्रकार दस दिन तक समारोह के कारण नगरी में खूब चहल-पहल मची रही।

नवजात शिशु के संस्कार किये गये। उसे चंद्र-सूर्य के दर्शन कराये गये। रातभर जागकर, गा-बजाकर रतजगा मनाया गया। ग्यारहवें दिन सूतक मनाने के बाद अपने सगे-संबंधियों और मित्रजनों को निमंत्रित कर भोजन, पान, वस्त्र और उपहार आदि द्वारा उनका सत्कार किया गया। गणराजा ने घोषणा की—शिशु के गर्भ में आने के बाद से ही हमारे कुल में हर बात में बढ़ोतरी हुई है, अतएव बालक का नाम वर्धमान रखना ठीक होगा। उपस्थित जनों ने जय-विजयपूर्वक प्रस्ताव का अनुमोदन किया।

होनहार बिरवान के होत चीकने पात

बड़े लाड़-प्यार में वर्धमान का लालन-पालन होने लगा। सुरक्षित चंपक वृक्ष की भांति वे बढ़ने लगे। अनेक दाइयां तैनात कर दी गयीं—कोई दूध पिलाती, कोई उबटन लगाकर नहलाती, कोई वस्त्र-आभूषण आदि पहनाती और नजर लगने से बचाने के लिए तिलक आदि करती, कोई खेल खिलौना आदि से बालक का मनोरंजन करती और कोई उसे गोदी में लेकर इधर-उधर घुमाती-फिराती।

बचपन से ही वर्धमान बड़े वीर, धीर और गंभीर प्रकृति के थे। अवसर आने पर वे बड़ी हिम्मत से काम लेते, डरकर भाग न जाते। एक बार की बात है कि वे अपने साथियों के साथ खेल रहे थे। इतने में एक भयंकर सांप दिखायी पड़ा जो वृक्ष की जड़ में लिपटा हुआ फुंकार मार रहा था। सांप को देखकर वर्धमान के साथी वहां से भाग खड़े हुए जबकि वर्धमान अविचल भाव से वहीं डटे रहे। उन्होंने सर्प को हाथ में लेकर दूर फेंक दिया। एक दूसरा प्रसंग है। वर्धमान जब अपने साथियों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे, स्वर्ग का कोई देवता अपना वेष-परिवर्तन कर उनके साथियों में मिल गया। नियम के अनुसार, खेल में हार जाने पर उसे वर्धमान को अपनी पीठ पर बैठाकर ले जाना पड़ा। लेकिन ज्यों ही

वर्धमान उसकी पीठ पर सवार हुए, अपनी दिव्य-शक्ति के बल से देव ने अपने शरीर को इतना फैला दिया कि वह एक भयंकर राक्षस जैसा दिखायी पड़ने लगा। वर्धमान फिर भी भयभीत न हुए। उन्होंने उसकी पीठ पर एक मुक्का जमाया जिससे वह देवता अपने असली रूप में प्रकट हो, उनसे क्षमा मांगने लगा।

मतलब यह कि वर्धमान बचपन से ही निर्भीक प्रकृति के थे और कोई संकट उपस्थित हो जाने पर बड़े धैर्य से काम लेना जानते थे। इन्हीं सब कारणों से वे महावीर नाम से प्रख्यात हो गये।

वर्धमान जब आठ वर्ष के हुए तो सिद्धार्थ ने उन्हें पाठशाला में भेजने का विचार किया। धूमधाम से उत्सव मनाया गया। एक वृद्ध ब्राह्मण का वेष बनाकर इंद्र, वर्धमान को साथ में ले पाठशाला पहुंचा। वर्धमान आचार्य से व्याकरण के प्रश्न पूछने लगे। और जब आचार्य ने प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थता बतायी तो वर्धमान उनके आसन पर बैठ, विषय का प्रतिपादन करने लगे।

गृहस्थाश्रम की ओर

वर्धमान ने युवा अवस्था में प्रवेश किया। यह अवस्था नयी-नयी समस्याओं को लेकर उपस्थित होती है। बाल्यावस्था लाड़-प्यार और खेलकूद में बीत जाती है, किंतु जवानी एक नया जोश और नयी उमंगें लेकर आती है। भावी जीवन के संबंध में गंभीरतापूर्वक विचार करने के लिए हमें प्रेरित करती है।

गणराजा की संतान होने से वर्धमान को दुनियावी ऐशो-आराम और भोग-विलास की कमी नहीं थी, फिर भी वे सोचा करते कि सभी को ऐशो-आराम की जिंदगी क्यों नसीब नहीं होती ? मनुष्य-मनुष्य में इतना अंतर क्यों है कि एक के सुख का पारावार नहीं और दूसरा सदैव दुःख के सागर में डूबा रहता है ? जीवन-मरण के प्रश्न की ओर भी उनका ध्यान गया। मनुष्य कहां से आता है और मरकर कहां चला जाता है ? इसके पीछे कौन-सा रहस्य छिपा है ? दुनिया में दुखि ों की संख्या क्यों अधिक

है? क्यों मनुष्य की इच्छा कभी तृप्त नहीं होती ? क्यों दुनिया में इतना अंधविश्वास और मूढ़ताएं फैली हुई हैं कि मनुष्य अपने हित और अहित को नहीं समझ पाता ? इसी सोच-विचार में समय बीतता चला गया।

युवावस्था ने आंगन में प्रवेश किया। वर्धमान एक प्रभावशाली प्रिय-दर्शन युवक थे। तपाये हुए उत्तम सोने जैसी उनके शरीर की शोभा निराली थी। उनका ललाट, उनकी आंख, नाक, कान और कपोल अत्यंत सुडौल थे, मानों किसी सांचे में ढलकर आये हों। अपने लाड़ले बेटे को जवानी में पदार्पण करते देख माता-पिता की खुशी का ठिकाना न था। धूमधाम से विवाह होगा, खुशियां मनायी जायेंगी, मंगलाचार गाये जायेंगे, पात्रों को दान-मान से सम्मानित किया जायेगा, स्वजन-संबंधियों की आव-भगत होगी ! कितने आनंद के दिन होंगे वे, जब वर्धमान गृहस्थाश्रम में प्रवेश करेंगे ! इत्यादि विचार वर्धमान के माता-पिता के मन में आनंद का सागर उंड़ेल देते।

वर्धमान के गुणों की ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। विवाह के प्रस्ताव आने लगे। एक-से-एक बढ़कर अनुपम रूपराशि की खान, गुण-गरिमा से संपन्न कन्याओं के विवाह-प्रस्ताव लेकर कन्याओं के पिता गणराजा सिद्धार्थ की सेवा में उपस्थित हुए। सिद्धार्थ प्रस्तावों पर विचार करने के लिए सहमत हुए। लेकिन वर्धमान की अनुमति प्राप्त किये बिना कोई निर्णय कैसे लिया जाये ? सिद्धार्थ ने वर्धमान के मित्रों से बातचीत की और विवाह के संबंध में वर्धमान के इरादे का पता लगाने को कहा। वर्धमान ने उत्तर दिया कि वे तो गृहस्थाश्रम में न पड़ने का विचार बहुत पहले से कर चुके हैं। किन्तु त्रिशला माता की भावनाओं की उपेक्षा भी कैसे की जा सकती थी ? आखिर माता के स्नेह के सामने उन्हें झुकना पड़ा। इच्छा न रहते हुए भी वर्धमान ने विवाह की स्वीकृति दे दी।

राजकुमारी यशोदा से वर्धमान का विवाह हो गया।[1] उनके प्रियदर्शना

---

1. वर्धमान के विवाह संबंधी परस्पर विरोधी मान्यताएं विचारणीय हैं—(क) सामान्यतया दिगंबर संप्रदाय में महावीर को अविवाहित और श्वेतांबर संप्रदाय

नाम की एक कन्या भी हुई जिसका विवाह उसी नगर के क्षत्रियकुमार जामालि के साथ हो गया।[1]

किंतु गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी संसार की मोह-माया वर्धमान को आकृष्ट न कर सकी। एकांत में बैठ वे सोचा करते—क्या सांसारिक विषय-भोगों को भोगने के लिए अपने आपको भूलकर संसार के माया-जाल में लिप्त होना उचित है? क्या संसार के आवागमन से छुटकारा पाने के लिए प्रबल पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं? मनुष्य-जन्म पाना अत्यंत कठिन है। मनुष्य-जन्म पाकर सम्यक् ज्ञान होना दुर्लभ है। धर्म का रहस्य समझना तो और भी दुष्कर है। कर्मों का नाश कर अपने आप पर विजय पाना, सबसे पहला कर्तव्य है। जीवन क्षणभंगुर है, इसका कोई भरोसा नहीं, न जाने कब यम का दूत आकर खड़ा हो जाये। संसार में कितने ही प्राणी ऐसे हैं जिन्हें अपनी जरा भी सुध-बुध नहीं, अपने आपको भूलकर वे संसार के दंद-फंद में फसे पड़े हैं, तथा काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ के वशीभूत हो दूसरों को कष्ट पहुंचा रहे हैं। इनका हित करने और इनको सन्मार्ग दिखाने के लिए अनवरत पुरुषार्थ की, अटूट धैर्य की और अपने को अधिक-से-अधिक योग्य बनाने की आवश्यकता है।

(आचारांग, 2.15.15; कल्पसूत्र, 5.112) में विवाहित माना गया है; यद्यपि कुछ श्वेतांबर ग्रंथों में (समवायांग, 19; स्थानांग, 471; आवश्यक निर्युक्ति 221-22; विमलसूरि, पउमचरिय, 57-58) उन्हें अविवाहित कहा है। (ख) दिगंबर परंपरा में कलिंगदेश के राजा जितशत्रु की कन्या यशोदा के साथ महावीर का विवाह होना निश्चित हुआ था। इस अवसर पर विवाह के मंगलाचार भी हुए किंतु वर्धमान संसार की मोह-माया छोड़कर तप करने चले गये (जिनसेन, हरिवंश पुराण, 66.8)। (ग) बालक वर्धमान के जन्मोत्सव की भांति उनके विवाहोत्सव मनाये जाने का उल्लेख नहीं मिलता। (घ) विवाह के समय महावीर की उम्र का उल्लेख नहीं है। (ङ) यशोदा के बारे में भी कोई विशेष जानकारी नहीं दी गयी है। (च) वर्धमान के दीक्षा-प्रसंग पर यशोदा का कोई उल्लेख न होना विचारणीय है। (छ) केवल ज्ञान प्राप्ति के बाद महावीर भगवान ने जब वैशाली में विहार किया, उस समय भी यशोदा का नाम सुनाई नहीं दिया।

1. भगवतीसूत्र में उल्लिखित जामालि के प्रसंग में यह उल्लेख नहीं है।

(ख) दीक्षा-ग्रहण और केवल ज्ञान की प्राप्ति

युवावस्था में मनुष्य की इंद्रियां परिपक्व हो जाती हैं, भोगों के भोगने की इच्छा प्रबल होने लगती है और अपने आप में असाधारण सामर्थ्य का अनुभव होने लगता है। ऐसे नाजुक समय संसार की मोह-ममता त्याग कर दीक्षा-ग्रहण करने की उत्कट इच्छा किसी बिरले के मन में ही जागृत हो सकती है।

महावीर जब 28 वर्ष के थे, उनके माता-पिता स्वर्ग सिधार गये थे इससे उनके जीवन-काल में दीक्षा न लेने की प्रतिज्ञा से वे मुक्त हो गये थे। अतएव उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता नंदिवर्धन के समक्ष दीक्षा का प्रस्ताव रक्खा। किंतु उन्होंने दीक्षा की अनुमति नहीं दी। उन्होंने कहा —"श्रमण-निर्ग्रंथों के तप और व्रत-नियमों का पालन करना महा कठिन है। बड़े-बड़े तपस्वियों के आसन डोल जाते हैं। निग्रंथ प्रवचन अत्यंत दुर्धर्ष है। अभी तुम बहुत छोटे हो, पक्की उमर होने पर दीक्षा लेना।"

महावीर जीवन की असारता से भलीभांति परिचित थे, फिर भी उन्होंने अपने बड़े भाई की आज्ञा शिरोधार्य कर ज्यों-त्यों करके दो वर्ष बिताये।

एक दिन उनके मन में जनहित की प्रबल भावना जाग उठी। अब की बार गृह-त्याग का उन्होंने निश्चय कर लिया। बहुत समझाने-बुझाने पर भी जब वे टस से मस न हुए तो निष्क्रमण-सत्कार की तैयारियां की जाने लगीं। रत्नों से जटित सुंदर पालकी मंगायी गयी। सुगंधित जल से वर्धमान ने स्नान किया तथा उत्तम वस्त्र एवं आभूषण धारण कर वे पालकी में पूर्व की ओर मुंह करके बैठे गये। उनके दाहिनी ओर शुद्ध वस्त्रालंकार से विभूषित हो, हंस के समान श्वेत वस्त्र और आभूषण पहने एक कुल-वृद्धा ने आसन ग्रहण किया। वायीं ओर रजोहरण, पात्र आदि दीक्षा की सामग्री ले अंबधाता (बड़ी धाय) बैठी। पीछे की ओर सोलह शृंगार

---

1. दिगंबर मान्यता के अनुसार महावीर की दीक्षा के समय उनके माता-पिता मौजूद थे, उन्होंने महावीर को समझाया।

कर एक युवती चमर ढुलाने लगी और दूसरी सामने खड़ी हो पंखा झलने लगी।

वर्धमान ने एक से एक सुंदर, नाक के श्वास से उड़ जाने वाले नवनीत के समान कोमल कीमती वस्त्रों तथा बहुमूल्य आभूषणों का त्याग किया, सरस और स्वादिष्ट व्यंजनों को सदा के लिए छोड़ दिया, अपने मित्र छोड़े, सखा और बंधुजन छोड़े, तथा विपुल धन, सुवर्ण, मणि, मुक्ता आदि को सदा के लिए त्यागकर एकांतवास के लिये वे चल पड़े। प्रजाजन की ओर से अभिनंदन के शब्द सुनाई देने लगे। गुरुजनों की ओर से आशीर्वाद के वचनों की बौछार होने लगी। प्रतिष्ठित नागरिकों द्वारा वहन की जाती हुई पालकी क्षत्रिय कुंडग्राम के बाहर ज्ञातृखंड उद्यान की ओर चल पड़ी।

अगहन वदी 10 का शुभ दिन था। उद्यान में पहुंच, वर्धमान जयविजय की घोषणा के बीच पालकी से उतरे। शरीर के वस्त्र-आभूषण उतार डाले। पंच मुष्टि से अपने केशों का लोंच किया। कुलवृद्धा ने उन्हें एक उत्तम रेशमी वस्त्र में ले लिया। कुलवृद्धा तथा अन्य कुटुबीजनों की भर्राई हुई आवाज सुनायी दी—"बेटा! प्रयत्न पूर्वक संयम को पालना, अपने व्रत और नियमों में अडिग रहना, क्षण भर के लिये भी प्रमाद नहीं करना!"

महावीर की दीर्घ तपस्या

महावीर की विचार-श्रृंखला जारी थी। नये जीवन में प्रवेश किया था उन्होंने। पुराने संगी-साथी छूट गये थे। सगे संबंधियों का स्नेह पुराना पड़ गया था। अब तो किसी का भी मोह शेष नहीं रह गया। किसी बात की चिंता नहीं, दुविधा नहीं—बेफिक्री ही बेफिक्री है। ऐसा अनमोल अवसर कब मिलेगा। उन्होंने दृढ़ निश्चय किया कि कितनी ही विघ्नबाधाओं का सामना क्यों न करना पड़े, कितने ही संकट क्यों न आयें, अपने ध्येय से वे नहीं डिगेंगे, पीछे नहीं हटेंगे।

इन्हीं विचारों में मगन ज्ञातृखंड उद्यान से गमन कर न जाने कब

कुम्मारग्राम पहुंच गये। वहां ध्यान में अवस्थित हो गये। इतने में एक ग्वाला अपने बैलों के साथ वहां आया। अपने बैलों को उसने चरने छोड़ दिया। महावीर से कहता गया कि वह उसके बैलों का ध्यान रखे। थोड़ी देर बाद ग्वाला लौट कर आया तो देखा कि बैल नदारद हैं। बैलों के बारे में महावीर से पूछा, लेकिन वे तो अपने ध्यान में थे। इधर-उधर ढूंढने पर बैल मिल गये। उसने सोचा की जरूर इस आदमी की कारस्तानी है। बैलों की रास लेकर वह महावीर को मारने दौड़ा। तपस्वी जीवन का यह पहला अनुभव था—जीवन फूलों की शैया नहीं, कांटों का शृंगार है!

कुम्मारग्राम से चलकर मोराग संनिवेश पहुंचे। वहां किसी तापस-कुलपति का आश्रम था। कुलपति ने वहीं चातुर्मास व्यतीत करने का अनुरोध किया। महावीर ने सोचा, चलो ठीक है। घास की एक झोंपड़ी में ठहर गये। वर्षा न होने के कारण नयी घास नहीं उगी थी, इसलिए गांव की गायें वहां आकर झोंपड़ी की घास खा जातीं। आश्रम के तापस गायों को मारकर वहां से भगा देते, किंतु क्या महावीर भी ऐसा ही करते? वे तो अपने ध्यान में लीन थे। कुलपति को महावीर की यह बात अच्छी न लगी। उन्होंने कहा, "पक्षी तक अपने घोंसले की रक्षा करते हैं और तुम इतना भी नहीं कर सकते?" महावीर वहां से विहार कर गये। उसी समय विचार की एक किरण मन में उदित हुई: "जहां अपने रहने से किसी को कष्ट पहुंचे, वहां नहीं रहना; और जहां रहना वहां मौन भाव से कार्योत्सर्गपूर्वक रहना।" वहां से अट्ठियाग्राम पधारे। यहां अस्थियों का ढेर लगा हुआ था इसलिए यह ग्राम अट्ठियाग्राम कहा जाता था। शूल-पाणि यक्ष की यह करतूत थी। यक्ष ने महावीर को भी अनेक कष्ट दिये, जिन्हें उन्होंने शांतिपूर्वक सहन किया। चातुर्मास आ पहुंचा था। जैन श्रमणों को चातुर्मास में विहार करने का निषेध है। महावीर का यह सबसे पहला चातुर्मास था।

ग्रामानुग्राम विहार करते हुए महावीर राजगृह होते हुए नालंदा पधारे। यहां उन्हें एक साथी मिल गया—मंखलिपुत्र गोशाल। वे भी वर्षावास

के लिए यहां ठहरे हुए थे। दोनों का मिलाप हुआ, एक दूसरे के प्रति आकर्षण बढ़ा। आगामी छह वर्ष तक दोनों का साथ रहा। इस अवधि में एक-दूसरे से प्रभावित भी हुए हों तो आश्चर्य की कौन बात है। यह दूसरा चातुर्मास था। तीसरा चातुर्मास दोनों ने चंपा में साथ-साथ बिताया।

वहां से कुमाराय संनिवेश पहुंचे। यहां पार्श्वनाथ के शिष्य स्थविर मुनिचंद्र अपने साधु-संघ के साथ ठहरे हुए थे। उन्हें परिग्रह सहित देख गोशाल ने उनकी आलोचना की। चोराग संनिवेश गये। उन दिनों शत्रु-राज्य की ओर से बहुत भय रहता था। राज-कर्मचारियों ने महावीर और गोशाल को गुप्तचर समझ कर पकड़ लिया और गड्ढे में लटका दिया। महावीर की तपस्या सफलता की ओर बढ़ रही थी। दोनों ने पृष्ठचंपा में चौथा चातुर्मास बिताया।

श्रावस्ती आदि स्थानों में विहार करते हुए दोनों कलंबुक संनिवेश पहुंचे। अब की बार चोर समझकर पकड़ लिये गये। यहां से लाढ देश (राढ़, पश्चिम बंगाल) की ओर चले। महावीर की सहन शक्ति की असली परीक्षा होना अभी बाकी थी। यह प्रदेश वज्जभूमि और सुब्भ-भूमि नामक दो हिस्सों में बंटा था। गांवों की बस्ती यहां बहुत कम थी। बहुत दूर तक चलते रहने पर भी ठहरने का स्थान मुश्किल से ही मिल पाता। रूक्ष भोजन का सेवन करने के कारण यहां के निवासी स्वभाव से अत्यंत क्रोधी थे। साधु-संत उन्हें फूटी आंखों न सुहाते। महावीर को नग्न शरीर देख वे उन पर कुत्ते छोड़ते, और दंड, मुष्टि आदि से प्रहार करते। बालक उन्हें देख, डर कर भाग जाते, धूल मिट्टी फेंकते और शोर मचाते। जब महावीर किसी गांव में पहुंचते तो वहां के निवासी उन्हें निकाल बाहर करते, उनका मांस नोच लेते, और उनके गोदोहन और उकड़ूं आदि आसनों से उन्हें गिरा देते।[1] लेकिन इस दीर्घ तपस्वी ने तो मन, वचन, और काया से प्राणी मात्र को कष्ट न पहुंचाने का प्रण ले रखा था। अपने शरीर का ममत्व छोड़ संग्राम के अग्रभाग में डटकर खड़े

1. दिगंबर परंपरा में महावीर उपसर्गातीत माने गये है।

हुए निर्भय हाथी की भांति महावीर ने दुर्जय परीषह सहन कर अपने नाम को सार्थक किया। कितनी सहन शक्ति और कितना आत्मविश्वास रहा होगा इस महान आत्मा में! भद्दिय (भदिया, जिला हजारीबाग) पहुंचकर महावीर और गोशाल ने पांचवां चौमासा बिताया।

कूविय संनिवेश में दोनों को गुप्तचर समझ पकड़ लिया गया। वहां से छूटकर वैशाली पहुंचे! गांव-गांव विहार करते हुए फिर से भद्दिय आये और वहां चौमासा किया।

तपस्वी जीवन के ये छह वर्ष बहुत कठिनाई से बीते। भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, डांस-मच्छर, सांप-बिच्छू, जंगली जानवर, ऊबड़-खाबड़ रास्ते, कंकरीली जमीन, नदी-नाले, राज्य का उपद्रव, मान-अपमान सभी कुछ सहन करना था इस महातपस्वी को! भावी जीवन के लिए जोर से तैयारी की जा रही थी!

तत्पश्चात् ग्रामानुग्राम विहार करते हुए दोनों लोहग्गला (लोहर-डग्गा, जिला रांची) पहुंचे। राजधानी में गुप्तचरों का जोर था। फिर से गुप्तचर समझकर पकड़ लिए गए। वहां से पुरिमताल (पुरलिया, मानभूम के पास) और गोभूमि (गोमोह, जिला गया) होते हुए राजगृह आए। यहां आठवां चौमासा किया। अब की बार फिर से गोशाल को साथ लेकर दीर्घ तपस्वी ने लाढ़ देश में विहार करने की ठानी। फिर से वही अपमान, अपशब्द, घोर उपद्रव और शारीरिक यातनाएं! लेकिन अब तो कष्ट सहन करने का अभ्यास हो गया था! जब शरीर के प्रति किसी प्रकार की मोह-ममता ही न रही हो तो फिर कैसा कष्ट और कैसी यातनाएं?

लाढ़ देश से चलकर दोनों सिद्धत्थपुर आये। वहां से कुम्मग्राम पहुंचे। यहां वैश्यायन नामक बाल तपस्वी से गोशाल की कहासुनी हो गयी। उसने क्रुद्ध होकर गोशाल पर तेजोलेश्या छोड़ी। महावीर ने गोशाल को बचाया। महावीर द्वारा प्रतिपादित तेजोलेश्या सिद्ध करने के लिए गोशाल श्रावस्ती चले गए। महावीर ने वैशाली का रास्ता पकड़ा। यहां से नाव से गंडक नदी पार कर वाणिज्यग्राम पहुंचना था। लेकिन किराया लिए

विना नाव का मल्लाह कैसे पार उतारता ! जैसे-तैसे वाणिज्यग्राम पहुंचे। वहां से श्रावस्ती जाकर दसवां चौमासा बिताया।

विहार करते-करते दढ़भूमि (धालभूम, जिला सिंहभूम) पधारे। यह प्रदेश भी अनार्य जाति के लोगों से भरपूर था। यहां और आस-पास के प्रदेश में महावीर को अनेक यातनाएं सहनी पड़ीं, फिर भी छह महीने तक वे भ्रमण करते रहे। तोसलि (धौलि, जिला कटक) पहुंचने पर चोर समझकर पकड़ लिए गए और फांसी पर चढ़ा देने की नौबत आ गयी ! इस विकट परीक्षा में से पार होकर दीर्घ तपस्वी आलभिया, सेयविया, श्रावस्ती, कौशांबी, वाराणसी, राजगृह और मिथिला होते हुए वैशाली पधारे। यहां इन्होंने ग्यारहवां चौमासा बिताया।

महावीर फिर कौशांबी लौटे। नगर में भ्रमण करते-करते बहुत दिन बीत गये, किंतु अभिग्रह पूरा न होने से उन्हें आहार-लाभ न हो सका। अंत में चंपा नगरी के राजा दधिवाहन की पुत्री, दासी बनकर लोहे की बेड़ियों में बंधी पड़ी चंदनबाला के हाथ से सूप में रक्खे हुए उड़द के दानों का आहार कर उन्होंने पारणा किया। चंपा में बारहवां चौमासा बिताया।

बारह वर्ष की तप-साधना कुछ कम नहीं होती। अच्छे-अच्छे पराक्रमियों का धीरज छूट जाता है, मन विचलित होने लगता है और पूर्व काल में भोगे हुए भोगों की स्मृति बेचैनी पैदा कर देती है। लगता है महावीर मानव होकर भी अति मानव की अवस्था में पहुंच गये थे। केवल शरीर धारण के लिये वे रूखा-सूखा भोजन करते; बहुत करके उपासे रहते और जल तक ग्रहण न करते। अपने निमित्त से वनाये हुए भोजन को स्वीकार न करते। भिक्षा के लिए जाते हुए मार्ग में श्रमण, ब्राह्मण, भिक्षुक अतिथि, चांडाल, बिलाड़ी, कुत्ते तथा भूखे-प्यासे पक्षियों को देख उनका हृदय करुणा से पसीज जाता और वे चुपचाप वहां से खिसक जाते। भोजन-पान की ओर उनकी जरा भी आसक्ति नहीं रह गयी थी। वे रूखा-सूखा और बासी-ठंडा आहार ग्रहण करते और वह भी न मिलता तो चुपचाप शांत भाव से लौट जाते। अपने शरीर पर उन्होंने गजब का नियंत्रण प्राप्त कर लिया था। यदि जरा भी नींद का झोंका लगता तो फौरन उठ बैठते

ग्रौर ध्यान में मग्न हो जाते। बीमार होने पर चिकित्सा न कराते; विरेचन, वमन, विलेपन ग्रादि की ग्रोर सर्वथा उदासीन रहते। भयंकर शीत ऋतु में जब हिमवात बहने के कारण लोगों के दांत किटकिटाते ग्रौर बड़े-बड़े तपस्वी ग्रौर साधु संन्यासी वायुरहित निश्छिद्र स्थानों की खोज में रहते, ग्राग जलाकर ग्रथवा वस्त्र धारण कर शीत से बचना चाहते तो दीर्घ तपस्वी श्रमणसिंह महावीर खुले स्थानों में ग्रपनी दोनों भुजाएं फैलाकर ध्यान में लीन हुए दिखाई पड़ते। ग्रीष्म में उकड़ूं बैठ, तपते हुए सूर्य के सामने मुंह करके तप तपते हुए नजर ग्राते।

कर्म का फल ग्रवश्य मिलता है। पुरुषार्थ में सिद्धि का निवास है। हमारे चरितनायक जंभियाग्राम पहुंच चुके थे। वैसाख सुदी 10 का पवित्र दिन था। ऋजुवालिका नदी के किनारे, श्यामाक गृहपति के खेत में, शाल वृक्ष के तले, गोदोहन ग्रासन से वे ध्यान में ग्रवस्थित हो गये। एकाएक लगा कि बंधन टूट गए हैं, मन की ग्रंथियां खुल रही हैं, संशय रूपी ग्रंधकार नष्ट हो गया है, चारों तरफ से ज्ञान का प्रकाश फैलता ग्रा रहा है। जो नहीं था, वह मिल गया है जो ग्रनजाना था उसका ज्ञान हो गया है, जो ग्रदृष्ट था वह सामने खड़ा है, जो कभी नहीं सुना था उसका ग्रनहद नाद सुनाई दे रहा है! दीर्घ तपस्वी के मन की साध पूरी हुई! ज्ञान-चक्षु खुल गए! ज्ञान की यह चरम ग्रवस्था थी! "ग्रब वे ग्रवश्य ही दूसरों के लिए कुछ कर सकेंगे" उनके मन में एक लहर उठी।[1]

महावीर की शिष्यमंडली

महावीर को केवलज्ञान होने की—बोधि प्राप्त करने की—बात बिजली की तरह सब जगह फैल गयी। ग्रब वे तीर्थंकर, वीतराग, बुद्ध, भगवान, ग्रर्हंत, जिन, केवली, सर्वज्ञ ग्रौर सर्वदर्शी कहलाने लगे। राग, द्वेष ग्रौर क्रोध, मान, माया ग्रौर लोभ पर उन्होंने विजय प्राप्त कर ली।

---

[1] देखिये ग्राचारांग (6); कल्पसूत्र (5.112-120); ग्रावश्यकनिर्युक्ति (111-527); ग्रावश्यकचूर्णि (पृ. 268-323), जिनसेन, हरिवंशपुराण; गुणभद्र, उत्तरपुराण।

भगवान् जंभियग्राम से मज्झिम पावा (मध्यम पावा, पावा अथवा अपापा; पावानगर जिला देवरिया) आये और वहां महासेन उद्यान में ठहर गये।[1] उन दिनों सोमिल नाम के धनाढ्य ब्राह्मण ने एक महान यज्ञ का आयोजन किया था जिसमें मगध के सैकड़ों विद्वान ब्राह्मण अपनी शिष्य-मंडली को लेकर उपस्थित हुए थे। मध्यम पावापुरी में भारी चहल-पहल मची हुई थी। इंद्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मंडित, मौर्य-पुत्र, अकंपित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास इन विद्वानों में प्रमुख थे। इंद्रभूति, अग्निभूति, और वायुभूति, ये तीनों भाई गौतम गोत्र के और गोब्बरग्राम के रहने वाले थे। व्यक्त और सुधर्मा दोनों कोल्लाग संनिवेश के रहने वाले थे। व्यक्त भारद्वाज गोत्र के और सुधर्मा अग्नि वैश्यायन गोत्र के थे। मंडित और मौर्य पुत्र दोनों संनिवेश के रहने वाले थे। मंडित वशिष्ठ गोत्र के और मौर्यपुत्र कश्यप गोत्र के थे। अकंपित मिथिला के रहने वाले गौतम गोत्रीय थे। अचलभ्राता कोशल के रहने वाले हारित गोत्रीय थे। मेतार्य और प्रभास कौंडिन्य गोत्रीय थे। मेतार्य तुंगिक के और प्रभास राजगृह के रहने वाले थे। इनके अतिरिक्त और भी कितने ही दिग्गज विद्वान और पंडित भगवान महावीर की कीर्ति सुनकर अपनी-अपनी शंकाओं का समाधान करने के लिये, उनसे वाद में जूझने के लिये नगरी में पधारे थे। लोगों का जमघट लग गया था तीर्थंकर के दर्शनार्थ। मानो स्वर्ग से कोई देवता उतर आया हो।

चौदह विद्याओं में पारंगत इंद्रभूति आदि ग्यारह ब्राह्मण विद्वान् अपने-अपने विषयों के प्रगाढ़ पंडित थे। अपनी-अपनी शंकाएं लेकर वे महासेन उद्यान में पहुंचे जहां भगवान महावीर विराजे हुए थे। इंद्रभूति की शंका आत्मा के संबंध में थी। अग्निभूति कर्म के विषय में शंकास्पद थे। वायु-भूति जीव और शरीर को एक समझते थे। व्यक्त की मान्यता थी कि प्रत्यक्ष दिखायी देने वाला यह जगत् स्वप्न की भांति केवल भ्रम है।

[1] दिगंबर मान्यता के अनुसार महावीर का प्रथम उपदेश राजगृह के विपुलाचल पर्वत पर हुआ।

सुधर्मा का कहना था कि इस जन्म में जो जिस योनि में है, दूसरे जन्म में भी उसे उसी योनि में पैदा होना चाहिए। मंडित को कर्मबंध और मोक्ष की वास्तविकता के विषय में संदेह था। मौर्यपुत्र को स्वर्ग, अकंपित को नरक, अचलभ्राता को पुण्य-पाप, मेतार्य को परलोक और प्रभास को निर्वाण के विषय में संशय था।

भगवान महावीर के साथ इन विद्वानों की बहुत समय तक चर्चा चली, वाद-विवाद हुए और उत्तर-प्रत्युत्तर चलते रहे। भगवान अपनी शांत, गंभीर अनुपम शैली में प्रत्येक की शंका का उत्तर दे रहे थे। उनकी शांत और प्रसन्न मुख-मुद्रा से सभी लोग प्रभावित जान पड़ते थे। अंत में अपनी-अपनी शंकाओं का समाधान होने के बाद एक-एक करके ग्यारहों ब्राह्मण विद्वानों ने भगवान का शिष्यत्व अंगीकार करने की अभिलाषा व्यक्त की। 'अरे ! इतने बड़े-बड़े विद्वान् जो गुरु-पद पर प्रतिष्ठित थे, शिष्य बन गये !' भगवान महावीर ने उन्हें श्रामण्य की दीक्षा देकर अपना पट्टधर बनाया। आगे चलकर ये ग्यारहों विद्वान् महावीर के गणधर कहलाये। बारह अंग, चौदह पूर्व और समस्त श्रुत का गंभीर अध्ययन और मनन कर वे दूर-दूर तक भगवान् महावीर के सार्वजनिक उपदेशों का प्रचार एवं प्रसार करने में जुट गये।[1]

(ग) केवली अवस्था और निर्वाण की प्राप्ति

केवलज्ञान होने के पश्चात् भगवान को अपने धर्मोपदेश द्वारा जन-कल्याण करना अभी बाकी था। प्रथम उपदेश के समय ही चतुर्विध संघ की स्थापना हो गयी थी। साधु-साध्वियां, आचार्य अथवा गणिनी के नेतृत्व में रहें, श्रावकगण भिक्षा आदि प्रदान कर साधु-साध्वियों की देखभाल करें

1. देखिये कल्पसूत्र (8, 1-4; 5. 127); आवश्यकनिर्युक्ति (644 आदि 656 आदि); आवश्यकचूर्णी (पृ. 334 आदि); जिनसेन, हरिवंशपुराण।

तथा उनका धर्मोपदेश श्रवण कर अपने जीवन को सफल बनायें; यही पारस्परिक सहयोग रूप इस संघ की स्थापना का उद्देश्य था।

राजगृह में मेघकुमार की दीक्षा

मध्यम पावा में कुछ दिन व्यतीत कर कैवल्य अवस्था को प्राप्त भगवान महावीर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए राजगृह पधारे, वहां गुणशिल चैत्य में ठहर गये। उनके आगमन का समाचार सुन, गली-गली, कूचे-कूचे और मुहल्ले-मुहल्ले में शोर मच गया, तथा अनेक उग्र, उग्रपुत्र, भोग, भोगपुत्र, राजन्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण, भट, योद्धा, धर्मशास्त्रपाठी, मल्लकी, लिच्छवी, मांडलिक, युवराज, गृहस्थ, धनिक, नगरसेठ, सेनापति और सार्थवाह आदि की भीड़ उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़ी।

उस समय मगध में श्रेणिक बिंबसार नामक प्रतापी राजा राज्य करता था। उसकी रानी धारिणी से उत्पन्न राजकुमार मेघकुमार ने जब यह कोलाहल सुना तो उसने अपने कंचुकी को बुलाकर पूछा। कंचुकी ने उत्तर दिया —"हे देवानुप्रिय! श्रमण भगवान तीर्थंकर महावीर नगरी में पधारे हैं, उनके दर्शन के लिए नगरवासियों की भीड़ उमड़ पड़ी है।" यह सुनकर मेघकुमार ने चार घंटों वाला अश्वरथ जुतवाया; स्नान किया और सर्वालंकार विभूषित हो, रथ में सवार होकर, भगवान के दर्शनार्थ चल पड़े।

भगवान के दूर से दर्शन कर, मेघकुमार रथ से नीचे उतरे, राजचिह्नों को उतार दिया और हाथ जोड़कर उनके निकट पहुंचे। तीन बार उन्होंने प्रदक्षिणा की, वंदना की, नमस्कार किया और विनयपूर्वक उपासना करते हुए बैठ गये।

केवली भगवान का प्रथम धर्मोपदेश आरंभ हुआ। उपदेश श्रवण कर मेघकुमार का मन आनंद से प्रफुल्लित हो उठा। भगवान की पुनः-पुनः वंदना करते हुए वे कहने लगे—"भंते! आपका कथन मुझे हितकर लगा है, निर्ग्रंथ प्रवचन मुझे रुचिकर हुआ है। जो आपने कहा है वह सत्य है, वास्तविक है, वह मुझे इष्ट है। हे देवानुप्रिय! मैं अपने माता-पिता की

अनुमति प्राप्त कर, आपके निकट प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूं ।"

भगवान ने उत्तर दिया—"हे देवानुप्रिय ! जैसे ठीक लगे, वैसा करो, कोई प्रतिबंध नहीं है ।"

मेघकुमार रथ में सवार हो अपने भवन में आये । अपने माता-पिता के पादों की वंदना कर वे कहने लगे—"हे माता-पिता ! मुझे श्रमण भगवान महावीर का धर्म अत्यंत रुचिकर हुआ है ।"

माता-पिता—"बेटा ! तुम धन्य हो, तुम भाग्यशाली हो, तुम्हारा जन्म सफल हुआ है जो भगवान का उपदेश तुम्हें प्रीतिकर हुआ ।"

मेघकुमार—"हे माता-पिता ! आपकी अनुज्ञा से मैं भगवान के श्रमण-धर्म में दीक्षित होना चाहता हूं ।"

यह सुनकर रानी धारिणी मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ीं । तत्पश्चात् जलधारा से सिंचित किये जाने और पंखे से हवा किये जाने पर जब वह होश में आई तो मोतियों की माला के समान बड़े-बड़े आंसू गिराती, करुण विलाप करती हुई कहने लगी—"हे मेघ ! तू मेरा इकलौता बेटा है, मेरे विश्वास का भाजन है, बहुमूल्य रत्न के समान प्रिय है, उदुंबर के पुष्प की भांति दुर्लभ है । एक क्षण भर के लिए भी मैं तेरे बिना नहीं रह सकती । अतएव जब तक हम जीवित रहें, मानवीय काम-भोगों का यथेष्ट सेवन करो । हमारी मृत्यु के बाद परिणत वय होने पर, वंश-बेल की वृद्धि हो जाने पर, उदासीन भाव प्राप्त कर, गृहस्थ-धर्म को त्याग, श्रमण दीक्षा ग्रहण करना ।"

मेघकुमार—"हे मां ! तुमने जो कहा है, वह ठीक है । किंतु यह मनुष्य भव अनिश्चित है, अनित्य है तथा सैकड़ों दुःखों और उपद्रवों से परिपूर्ण है । जीवन क्षणभंगुर है, न जाने पहले कौन काल की चपेट में आ जाये । अतएव हे माता ! श्रमण धर्म में दीक्षित होने की अनुमति दो जिससे मैं इस मनुष्य-जन्म को सार्थक कर सकूं ।"

माता—"बेटा ! तू नहीं जानता श्रमण भगवान महावीर के धर्म का पालन कितना कठिन है ! इसमें सर्प की भांति एकांत दृष्टि और छुरे की भांति एकांत धार रखनी पड़ती है । यह लोहे के चने चबाने के समान

महा कठिन है। बालू के ग्रास के समान नीरस है। गंगा महानदी के विरुद्ध तैरने तथा महासमुद्र को भुजाओं से पार करने के समान अत्यंत कष्टसाध्य है। असिधारा व्रत के समान इसका आचरण दुष्कर है। बेटा! श्रमण-निर्ग्रंथों को रूखा-सूखा खाकर जीवन-निर्वाह करना पड़ता है; भूख-प्यास, शीत-ऊष्ण आदि सहनी पड़ती हैं, रोग आदि से आक्रांत होने पर दारुण कष्ट भुगतने पड़ते हैं। तेरे जैसा सुकुमार बालक इन दारुण कष्टों को कैसे सहन कर सकेगा?"

मेघकुमार—"हे माता! तुमने जो कहा है, वह ठीक है। किंतु यह भय तो कायरों और क्लीवों के लिए है जिन्हें इस लोक में आसक्ति है और परलोक की अपेक्षा नहीं। धीर, वीर और पराक्रमी पुरुष इन बातों से कभी नहीं घबराते। आप मुझे भगवान महावीर के समीप जाकर प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति प्रदान करें।"

इस प्रकार अनेक ऊहापोह के बाद भी जब मेघकुमार अपने दृढ़ निश्चय से न डिगे तो अंत में धारिणी माता ने कहा—"अच्छी बात है बेटा! एक दिन के लिए तुम्हारे राजपाट को देखने की मेरी परम अभिलाषा है, उसे पूर्ण करो।"

मेघकुमार ने माता-पिता की आज्ञा शिरोधार्य करते हुए मौनपूर्वक अपनी अनुमति दी। राजा श्रेणिक ने कौटुंबिक पुरुषों को राज्यभिषेक की तैयारी करने का आदेश दिया।

राजकुमार को सोने-चांदी के कलशों से स्नान कराया गया, पुष्पों और पुष्पमालाओं के ढेर लग गये, दुंदुभि का घोष सुनाई देने लगा और जय-विजय के शब्दों से आकाश गूंज उठा। राजा श्रेणिक के शब्द सुनाई पड़े—"हे पुत्र! तू विजयी हो, शत्रुओं को जीत और मित्रों का पालन कर। मगध का आधिपत्य प्राप्त कर, राजा भरत के समान संसार में रहते हुए राज्य का उपभोग कर।"

मेघकुमार ने राज्य-पद प्राप्त कर सर्वप्रथम नगर की दूकान से साधु के योग्य रजोहरण और पात्र मंगाने का आदेश दिया। केश काटने के लिए उसने नाई को बुलवाने का हुक्म दिया। नाई ने उपस्थित हो, सुरभि

गंधोदक से हाथों और पैरों का प्रक्षालन कर, चार तह वाले शुद्ध वस्त्र से अपना मुंह ढक, चार अंगुल छोड़कर मेघकुमार के केश काटे। माता धारिणी ने इन केशों को वस्त्र में ग्रहण किया और यादगार के लिए उन्हें अपनी रत्न की पिटारी में बंदकर अपने तकिये के नीचे रख लिया।

मेघकुमार को स्नान कराया गया। गोशीर्ष चंदन का लेप किया गया। वस्त्राभूषणों से अलंकृत किया गया। फिर वे पालकी में सवार हुए। धारिणी माता दाहिनी ओर भद्रासन पर बैठी। उसकी बायीं ओर रजोहरण और पात्र लेकर अंबधाता ने आसन ग्रहण किया। दोनों ओर दो सुंदर तरुणियां चमर डुलाने लगीं। जय-विजय के शब्द सुनाई पड़ने लगे।

गुणशिल चैत्य में पहुंच राजा श्रेणिक और रानी धारिणी ने अपने पुत्र को शिष्य-भिक्षा के रूप में प्रस्तुत किया। धारिणी मां की भर्राई हुई आवाज सुनाई पड़ रही थी—"बेटा! सचेष्ट होकर संयम को पालना, पराक्रम में ढील न करना, कभी प्रमादी न होना। हम भी आगे चलकर इस मार्ग का अनुसरण करें!"[1]

भगवान महावीर ने राजगृह में अपना 13वां वर्षा-काल पूर्ण किया। कैवल्य अवस्था प्राप्त करने के बाद यह उनका पहला चातुर्मास था।

चौदहवां चातुर्मास—

ब्राह्मण कुंडग्राम में देवानंदा और ऋषभदत्त की दीक्षा

राजगृह से भगवान का आगमन सुन, महावीर के असली माता-पिता देवानंदा ब्राह्मणी और ऋषभदत्त ब्राह्मण तथा अन्य कुटुंबीजन बड़ी उत्सुकता से उनके दर्शन के लिए चले। माता देवानंदा की उस समय क्या दशा हुई होगी, उसे कोई सहृदय कवि ही अपनी वाणी द्वारा चित्रित कर सकता है। अपने पुत्र को देखकर उसकी आंखों से अश्रुधारा बह निकली और स्तनों में से दूध फूट पड़ा। गौतम गणधर ने प्रश्न किया—"भगवन्! आप तो क्षत्रियाणी त्रिशला के पुत्र हैं, फिर आपको देखते ही

1. ज्ञाताधर्मकथा।

देवानंदा के स्तनों में दूध कैसे उतर आया ?" भगवान ने उत्तर में कहा— "हे गौतम ! देवानंदा मेरी असली माता हैं और मैं उसका पुत्र हूं। अपने पुत्र को देखकर माता के स्तनों में दूध का उतर आना स्वाभाविक है।"[1]

महावीर ने अपनी माता और पिता को श्रमण धर्म में दीक्षित किया।

ब्राह्मणकुंड के नजदीक क्षत्रिय कुंडग्राम में महावीर जन्मे थे। महावीर के माता-पिता का स्वर्गवास उनके दीक्षा ग्रहण करने के पहले ही हो चुका था। किंतु उनकी पुत्री प्रियदर्शना[2] और उनका जमाता जामालि वहां रहते थे। उनके ज्येष्ठ भ्राता नंदिवर्धन भी मौजूद थे।

भगवान के क्षत्रिय कुंडग्राम पहुंचने पर अवश्य ही उनके सगे-संबंधी और संगी-साथी इस भूमिपुत्र के दर्शन के लिये उत्सुक रहे होंगे। उनकी पत्नी यशोदा का यहां भी कोई उल्लेख नहीं है। भगवान का धर्मोपदेश श्रवण कर जामालि ने श्रमण-दीक्षा ग्रहण की।[3] प्रियदर्शना ने अपने पति का अनुसरण किया। वैशाली में महावीर ने 14वां चातुर्मास बिताया। केवली अवस्था का यह दूसरा चातुर्मास था।

पंद्रहवां चातुर्मास—कौशांबी में जयंती की दीक्षा

वैशाली से भगवान ने वत्स जनपद की ओर विहार किया। उस समय कौशांबी में राजा शतानीक रानी मृगावती के साथ राज्य करता था। उसके पुत्र का नाम उदयन था।

महावीर जब कौशांबी पधारे तो राजकुमार उदयन अपनी माता मृगावती और बुआ जयंती के साथ उनकी वंदना के लिए गया। धर्मोप-

---

1. श्वेतांबर परंपरा के अनुसार महावीर पहले देवानंदा ब्राह्मणी के गर्भ में आये, फिर गर्भहरण द्वारा त्रिशला क्षत्रियाणी के गर्भ में पहुंचा दिये गये। दिगंबर परंपरा में गर्भहरण की घटना मान्य नहीं है।
2. प्रियदर्शना का जामालि की पत्नी के रूप में भगवतीसूत्र में उल्लेख नहीं है। (देखिए अध्याय 3, फुटनोट 2)।
3. भगवतीसूत्र (9-6)।

देश सुनने के बाद उदयन अपनी मां के साथ वापस आ गया लेकिन जयंती वहीं रह गयी। भगवान महावीर से उसने अनेक शंकाओं का समाधान किया :

"भगवन् ! जीव में भारीपन कहां से आता है ?"

महावीर—"हे जयंति ! हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पापस्थानों के कारण जीव में भारीपन आता है। इससे उसका संसार-परिभ्रमण बढ़ता है और वह अनंत काल तक भटकता रहता है। पापस्थानों का भार कम करने से जीव हल्का होता है और वह संसार-समुद्र से पार हो जाता है।

जयंती—"भगवन् ! सुप्तपना अच्छा या जागृतपना ?"

महावीर—"जयंति ! कुछ लोगों को सुप्तपना अच्छा है और कुछ का जागृतपना। अधर्मी पुरुषों का सोते रहना अच्छा है क्योंकि इससे वे प्राणियों को कष्ट न पहुंचाकर अधार्मिक क्रियाओं से निवृत्त हो सकेंगे। किंतु धार्मिक पुरुषों को जागते रहना अच्छा है, इससे वे जीवों को सुखी बनाकर पुण्य के भागी बन सकेंगे।"

जयंती ने भगवान महावीर के समक्ष और भी अनेक प्रश्न प्रस्तुत किए जिनका उत्तर पाकर वह संतुष्ट हुई। श्रमणी दीक्षा स्वीकार कर उसने निर्वाणपद पाया।[1] कौशांबी से भगवान ने कोसल देश की ओर विहार किया। श्रावस्ती पहुंचकर उन्होंने सुमनोभद्र और सुप्रतिष्ठ नामक गृहस्थों को श्रमण धर्म में दीक्षित किया।

महावीर भगवान फिर अपनी जन्मभूमि विदेह की ओर लौटे। वाणिज्यग्राम में पहुंच वे दुइपलास चैत्य में ठहर गये।

वाणिज्यग्राम में आनंद नामक एक समृद्धिशाली गृहपति रहता था। वह अपरिमित सोना-चांदी, गाय-बैल, खेत-हल, घोड़ा-गाड़ी, यान-वाहन और यानपात्र आदि का स्वामी था। भगवान का उपदेश श्रवण कर आनंद ने श्रावक के 12 व्रत स्वीकार किये। श्रमण-निर्ग्रंथों को निर्दोष

1. भगवतीसूत्र (12.2)।

अन्न-पान आदि से सम्मानित कर उनकी उपासना करने का उसने नियम ग्रहण किया। आनंद की पत्नी शिवानंदा ने भी श्राविका के व्रत लिये।[1] भगवान ने वाणिज्यग्राम में 15वां–केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात् तीसरा–चातुर्मास बिताया।

सोलहवां चातुर्मास राजगृह में

वाणिज्यग्राम से भगवान ने फिर मगध की ओर विहार किया। राजगृह में धन्य और शालिभद्र को श्रमण धर्म में दीक्षित किया। भगवान् ने यहां 16वां—कैवल्य अवस्था का चौथा—चातुर्मास व्यतीत किया।

सत्रहवां चातुर्मास वाणिज्यग्राम में

राजगृह से भगवान ने चंपा की ओर प्रस्थान किया। चंपा में राजकुमार महचंद्र को श्रमण धर्म में दीक्षित किया। कामदेव को श्रमणोपासक बनाया। भगवान ने निग्रंथ-निग्रंथिनियों को कामदेव की भांति संयम में दृढ़ रहने का उपदेश दिया।[2]

चंपा से सिंधु-सौवीर जनपद के राजा उदयन को श्रमण धर्म में दीक्षित करने के लिए भगवान महावीर का वीतिभय नगर गमन करने का उल्लेख मिलता है।[3] तत्पश्चात् वाणिज्यग्राम में उन्होंने 17वां—केवली अवस्था का पांचवां—चातुर्मास बिताया।

अट्ठारहवां चातुर्मास राजगृह में

भगवान महावीर वाणिज्यग्राम से वाराणसी आये और कोष्ठक चैत्य में ठहर गये। यहां उन्होंने गृहपति चूलणिपिता और गृहपति सुरादेव को श्रावक के व्रत दिये।[4]

1. उपासकदशा (1)।
2. उपासकदशा (2)।
3. भगवतीसूत्र (13. 6)।
4. उपासकदशा (3 और 4)।

वाराणसी से वे आलभिया आये। पुद्गल परिव्राजक ने श्रमण-दीक्षा ग्रहण की।[1] आलभिया के चुल्लशतक गृहपति ने श्रावक के व्रत लिये[2]। आलभिया से मगध की ओर विहार किया। राजगृह में मकायी आदि गृहस्थों को श्रमण धर्म में दीक्षित किया। भगवान ने यहां 18वां—केवली अवस्था का छठा—चातुर्मास किया।

उन्नीसवां चातुर्मास राजगृह में

मगध में ही भगवान का विहार जारी रहा। मगध के राजा श्रेणिक बिंबसार ने महावीर के दर्शन किये। महावीर ने भविष्यवाणी की कि श्रेणिक मरने के बाद नरक में जायेगा, लेकिन आगे चलकर तीर्थंकर बनेगा।

राजगृह में भगवान ने श्रेणिक-पुत्र अभयकुमार तथा अन्य राजपुत्रों को श्रमण धर्म की दीक्षा दी। श्रेणिक की अनेक रानियों ने भी श्रमणी दीक्षा स्वीकार की। भगवान का यह 19वां—केवली अवस्था का सातवां—चातुर्मास था।

बीसवां चातुर्मास वैशाली में

केवली भगवान ने वत्सदेश की ओर प्रयाण किया। जब वे कौशांबी पधारे तो उज्जैनी का राजा चंडप्रद्योत रानी मृगावती को प्राप्त करने के लिए कौशांबी पर चढ़ाई करने की सोच रहा था। युद्ध से जनसमूह की रक्षा के लिए मृगावती महावीर की शरण में गयी। चंडप्रद्योत वहां पहले से ही उपस्थित था। भगवान स्त्रियों के प्रति पुरुषों की लंपटता का आख्यान सुना रहे थे। इसी समय अवसर पाकर मृगावती ने दीक्षा ग्रहण करने का विचार प्रकट किया। राजा शतानीक परलोकवासी हो चुके थे, अतएव चंडप्रद्योत की अनुमति प्राप्त कर रानी ने दीक्षा स्वीकार की। चंडप्रद्योत की आठ रानियां भी दीक्षित हो गयीं।

---

1. भगवतीसूत्र (11. 12)।
2. उपासकदशा (5)।

महावीर ने विदेह की ओर प्रस्थान किया। वैशाली पहुंचकर 20वां —कैवल्य प्राप्ति के बाद आठवां—चातुर्मास बिताया।

इक्कीसवां चातुर्मास वाणिज्यग्राम में

महावीर मिथिला की ओर चले। वहां से काकंदी और श्रावस्ती होते हुए पांचाल, शूरसेन और कुरु आदि क्षेत्रों में विहार किया।

काकंदी में भद्रा सेठानी के पुत्र धन्य को उपदेश सुनकर वैराग्य हो आया। बहुत ठाट-बाट से धन्य का निष्क्रमण-सत्कार किया गया; राजा भी उसमें शरीक हुआ। धन्य की तपश्चर्या को भगवान महावीर ने महा-दुष्कर घोषित किया। कांपिल्य में भगवान् ने कुंडकोलिक गृहपति को श्रावक के व्रत दिये।

पोलासपुर में महावीर भगवान ने सद्दालपुत्र नामक कुम्हार और उसकी पत्नी अग्निमित्रा को श्रावक के 12 व्रतों का उपदेश दिया। सद्दालपुत्र मंखलिपुत्र गोशाल द्वारा प्रतिपादित आजीविक मत के सिद्धांतों का ज्ञाता था।[1] वाणिज्यग्राम में भगवान ने 21वां—कैवल्य अवस्था का नौवां—चातुर्मास किया।

बाईसवां चातुर्मास राजगृह में

वर्षा ऋतु समाप्त होने के पश्चात् भगवान ने मगध की ओर विहार किया। राजगृह में महाशतक गृहपति को श्रावक की दीक्षा दी। अपनी पत्नी द्वारा अनेक बाधाएं उपस्थित की जाने पर भी महाशतक अपने व्रत-नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करता रहा।[2] यहां महावीर और पार्श्वा-पत्य साधुओं के बीच काल-संबंधी चर्चा चली। पार्श्वापत्य साधुओं ने भगवान को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी घोषित कर उनके पांच-महाव्रतों को

---

1. उपासकदशा (7)
2. वही (8)।

ग्रहण किया।[1] राजगृह में भगवान ने 22वां—कैवल्य प्राप्ति के बाद दसवां—चातुर्मास व्यतीत किया।

तेईसवां चातुर्मास वाणिज्यग्राम में

भगवान ने पश्चिम की ओर प्रयाण किया। कृतांगला नगरी में पहुंचकर छत्रपलाश चैत्य में ठहरे। उन दिनों श्रावस्ती में स्कंद नामक परिव्राजक रहता था जो चार वेद, इतिहास-पुराण और निघंटु नामक कोश का पंडित तथा नीति एवं दर्शनशास्त्र का ज्ञाता था। भगवान को कृतांगला में आया जान, स्कंदक अपने चिह्न, पात्र आदि लेकर उनके दर्शन के लिए गया। भगवान का धर्मोपदेश श्रवण कर स्कंदक ने श्रमण दीक्षा स्वीकार की।[2]

कृतांगला से भगवान श्रावस्ती को ओर चले। यहा नंदनी-पिता और सालिही-पिता को श्रावक के व्रत दिये।[3] भगवान ने वाणिज्यग्राम में 23वां—कैवल्य प्राप्ति के बाद ग्यारहवां—चातुर्मास बिताया।

चौबीसवां चातुर्मास राजगृह में

महावीर ब्राह्मण कुंडग्राम में पहुंच दुतिपलाशवन में ठहरे। वहां से वत्स जनपद की ओर चलकर कौशांबी पधारे। मगध की ओर प्रयाणकर राजगृह आये और गुणशिलचैत्य में ठहर गये। राजगृह में महावीर भगवान और गौतम गणधर के बीच पर्युपासना संबंधी निम्नलिखित प्रश्नोत्तर हुए :

गौतम—"हे भगवन्! श्रमण या ब्राह्मण की पर्युपासना करने का क्या फल मिलता है?"

महावीर—"(सत् शास्त्रों का) श्रवण।"

गौतम—"श्रवण का क्या फल होता है?"

महावीर—"ज्ञान।"

---

1. भगवतीसूत्र (5 .9)।
2. भगवतीसूत्र (2. 1)।
3. उपासकदशा (9 और 10)

गौतम—"ज्ञान का क्या फल है ?"

महावीर—"विज्ञान (विवेक-ज्ञान)।"

गौतम—"विज्ञान का क्या फल है ?"

महावीर—"प्रत्याख्यान (पाप का त्याग)।"

गौतम—"प्रत्याख्यान का क्या फल है।"

महावीर—"संयम।"

गौतम—"संयम का क्या फल है ?"

महावीर—"निरास्रव होना (पाप कर्म का रुकना)।"

गौतम—"निरास्रव होने का क्या फल है ?"

महावीर—"तप का आचरण।"

गौतम—"तप आचरण का क्या फल है ?"

महावीर—"कर्मरूप मल का साफ होना।"

गौतम—"कर्मरूप मल के साफ होने का क्या फल है ?"

महावीर—"निष्क्रियत्व (मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार का निरोध)"

गौतम—"निष्क्रियत्व का क्या फल है ?'

महावीर—"सिद्धि।"[1]

महावीर का 24वां—कैवल्य अवस्था का बारहवां—चातुर्मास राजगृह में व्यतीत हुआ।

पच्चीसवां चातुर्मास मिथिला में

भगवान ने चंपा की ओर विहार किया। श्रेणिक राजा के दस पौत्रों ने दीक्षा ग्रहण की। माकंदीपुत्र जिनपालित को श्रमणधर्म में दीक्षित किया। भगवान ने श्रमण-श्रमणियों को जिनपालित की भांति अपने व्रत-नियमों में सुदृढ़ रहने का उपदेश दिया।[2] विदेह पहुंच कांकदी नगरी के

---

[1] भगवतीसूत्र (2, 5)।

[2] ज्ञाताधर्मकथा (9)।

क्षेमक, धृतिधर आदि गृहस्थों को श्रामण्य दीक्षा दी। 25वां—कैवल्य अवस्था का तेरहवां—चातुर्मास मिथिला में बीता।

छब्बीसवां चातुर्मास मिथिला में

यहां से अंग जनपद की ओर विहार किया। राजा श्रेणिक की दस विधवा रानियों ने श्रमणियों की दीक्षा ग्रहण की। महावीर ने 26वां—कैवल्य अवस्था का चौदहवां—चातुर्मास फिर से मिथिला में ही बिताया।

सत्ताईसवां चातुर्मास मिथिला में

वर्षा ऋतु समाप्त होने पर वैशाली होते हुए श्रावस्ती की ओर विहार किया। वैशाली में कूणिक अजातशत्रु के लघु भ्राता हल्ल और विहल्ल को दीक्षा दी।

श्रावस्ती पहुंचकर भगवान कोष्ठक चैत्य में ठहरे। गोशालक यहां हालाहल कुम्हारी की कुंभकारशाला में ठहरे हुए थे। उनके बारे में पहले कहा जा चुका है। 24 वर्ष की कठिन साधना के पश्चात् गोशाल को ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। छह वर्ष वे महावीर भगवान के साथ रहकर उनसे अलग हो गये थे। दो वर्ष गोशाल अकेले रहे, और अब 16 वर्ष पश्चात् जिनपद धारण कर, अपना अलग संघ स्थापित कर आजीविक सिद्धांतों का उपदेश करते हुए श्रावस्ती में विहार कर रहे थे।

महावीर भगवान ने जब सुना कि गोशाल अपने-आपको जिन घोषित कर रहा है तो उन्होंने गोशाल के जिन होने का विरोध किया। यह सुनकर गोशाल को बहुत क्रोध आया। गांव में भिक्षा के लिये आये हुए महावीर के शिष्य आनंद मुनि को बुलाकर उन्होंने कहा "यदि तुम्हारा गुरू मेरे बारे में कुछ कहेगा तो मैं अपने तेजोबल से उसे भस्म कर डालूंगा।"

आनंद ने जब यह बात भगवान महावीर से कही तो भगवान ने उत्तर दिया—"इसमें संदेह नहीं कि गोशाल अपने तेज द्वारा पाषाणमय मारण महायंत्र के आघात की भांति किसी को भी भस्म करने की सामर्थ्य रखता है। अपने तेजोबल से वह अंग, बंग, मगध, मालव आदि 16 जनपदों

को जलाकर भस्म कर सकता है, लेकिन वह मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता।" फिर भी महावीर ने अपने साधुओं को नाहक ही गोशाल को छेड़ने के लिये मना किया।

इस बीच महावीर का कोई उत्तर न पा गोशाल अपने शिष्य परिवार के साथ कोष्ठक चैत्य में आ पहुंचे। महावीर को संबोधित करके कहने लगे—"हे आयुष्मान् काश्यपगोत्रीय ! जिस गोशाल को तुम अपना शिष्य कहते हो, वह कभी का मर चुका है, उसको सात भव बीत चुके हैं। अब वे श्रावस्ती में हालाहला कुम्हारी की कुंभकारशाला में मंखलिपुत्र गोशालक नाम से 16 वर्ष से रह रहा हूं।" महावीर ने उत्तर दिया—"यह तेरा मिथ्या अपलाप है।"

यह सुनते ही गोशाल आग-बबूला हो गये। उन्होंने अपनी तेजोलेश्या से महावीर पर वार किया। वे कहने लगे—"तू मेरे तेज से नष्ट-विनष्ट हो पित्तज्वर से पीड़ित होकर छह मास के अंदर कालधर्म को प्राप्त करेगा।" महावीर ने उत्तर में कहा—"हे गोशालक ! तेरी तेजोलेश्या मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकती, मैं अभी 16 वर्ष और जीवित रहने वाला हूं किंतु तू स्वयं अपने तेज से पराभूत हो, सात रात्रि के बाद कालधर्म को प्राप्त होगा।"

शास्त्रों के अनुसार महावीर की भविष्यवाणी सच निकली। अपना अंतिम समय जान गोशाल ने अपने स्थविरों को बुलाकर आदेश दिया—"हे स्थविरो ! मेरी मृत्यु के बाद मुझे सुगंधित जल से स्नान कराकर, मेरे शरीर पर चंदन का लेपकर, बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से मुझे शिविका में लिटा, श्रावस्ती में घुमाते हुए घोषणा करना कि 24वें तीर्थंकर गोशाल समस्त दुःखों का अंत कर सिद्ध हो गये हैं।"

महावीर श्रास्वती से चलकर मेंढियग्राम पहुंचे; साणकोष्ठक नामक चैत्य में उतरे। उनके शरीर में तीव्र दाह होने लगी और खून के दस्त होना शुरू हो गये। लोगों में अफवाह फैल गयी कि गोशाल के तप तेज से अभिभूत महावीर शीघ्र ही कालधर्म को प्राप्त होंगे। यह सुनकर उनका शिष्य सिंह रुदन करने लगा। महावीर ने सब लोगों को सांत्वना दी कि

चिंता की कोई बात नहीं। वे अभी 16 वर्ष और जीवित रहने वाले हैं। रेवती श्राविका के घर से लायी गयी भिक्षा का सेवन कर भगवान ने आरोग्य लाभ किया।[1]

मेंढियग्राम से महावीर ने मिथिला की ओर विहार किया। फिर से मिथिला में ही 27वां—कैवल्य प्राप्ति के बाद पंद्रहवां—चातुर्मास बिताया।

अट्ठाईसवां चातुर्मास वाणिज्यग्राम में

भगवान ने श्रावस्ती, अहिच्छत्रा, हस्तिनापुर आदि नगरों में विहार किया। श्रावस्ती में महावीर के शिष्य गौतम इंद्रभूति और पार्श्वनाथ के शिष्य केशीकुमार के बीच वार्तालाप हुआ जिसका उल्लेख किया जा चुका है। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान हस्तिनापुर पहुंचे। यहां नगर के राजा शिव ने तापसों की प्रव्रज्या ग्रहण की थी। महावीर ने उन्हें श्रमण दीक्षा दी। वे राजर्षि कहे जाने लगे।[2]

भगवान महावीर वाणिज्यग्राम की ओर चले। यहां भगवान का 28वां – कैवल्य प्राप्ति के बाद सोलहवां—चातुर्मास बीता।

उनतीसवां चातुर्मास राजगृह में

29वां—कैवल्य अवस्था का सत्रहवां—चातुर्मास राजगृह में बीता।

तीसवां चातुर्मास वाणिज्यग्राम में

चंपा पहुंचकर साल-महासाल नामक युवराज बंधुओं को दीक्षित किया। दशार्ण में दशार्णभद्र राजा को दीक्षा दी। वहां से विदेह की ओर लौटे। वाणिज्यग्राम-वासी ब्राह्मणशास्त्रों के वेत्ता सोमिल ब्राह्मण की शंकाओं का समाधान कर उसे श्रमणोपासक बनाया। सोमिल ने भगवान से प्रश्न किया—"भगवन्! सरसों (सरिसव) भक्ष्य है या अभक्ष्य?" महावीर

---

1. भगवतीसूत्र (15)।
2. भगवतीसूत्र (11. 9)

ने उत्तर दिया—"सरिसव का अर्थ सदृश वय वाले (मित्र) किया जाय तो अभक्ष्य है, और यदि उसका अर्थ सरसों है तो भक्ष्य है।[1]

महावीर का यह 30वां—कैवल्य प्राप्ति के बाद अट्ठारहवां—चातुर्मास था।

इकतीसवां चातुर्मास वैशाली में

महावीर कोशल-पांचाल की ओर गमन कर, साकेत, श्रावस्ती, कांपिल्यपुर आदि नगरों में भ्रमण करते हुए वैशाली आए। यहां उन्होंने 31वां—कैवल्य अवस्था का उन्नीसवां—चातुर्मास बिताया।

बत्तीसवां चातुर्मास वैशाली में

विदेह, कोशल और काशी के प्रदेशों में विहार करते हुए वैशाली पहुंचे; फिर से भगवान ने 32वां—कैवल्य अवस्था का बीसवां—चातुर्मास बिताया। वाणिज्यग्राम वैशाली का ही एक भाग था। दोनों के बीच गंडक नदी बहती थी। वाणिज्यग्राम में भगवान से पार्श्वापत्य गांगेय श्रमण के भेंट होने की बात कही जा चुकी है।

तेंतीसवां चातुर्मास राजगृह में

भगवान फिर से मगध की ओर लौटे; राजगृह पहुंचे। वहां से वे चंपा की ओर चले। फिर राजगृह आये। केवलज्ञान उत्पन्न न होने से गौतम के मन में जो आशंका उपस्थित हो गयी थी, उसका निराकरण किया। कालोदायी को श्रमण दीक्षा दी।[2] राजगृह में फिर से भगवान ने चौमासा किया। यह उनका 33वां—कैवल्य प्राप्ति के बाद 21वां—चातुर्मास था।

चौंतीसवां चातुर्मास नालंदा में

राजगृह के उत्तर-पूर्व में अवस्थित नालंदा राजगृह का उपनगर कहा

1. भगवतीसूत्र (18. 10)।
2. भगवतीसूत्र (7. 10)।

जाता था। भगवान ने नालंदा की ओर विहार किया। यहां पार्श्व के अनुयायी उदक पेढालपुत्र ने महावीर के पांच महाव्रत स्वीकार किये।[1] यह भगवान का चौंतीसवां—कैवल्य अवस्था का का बाईसवां—वर्षाकाल था।

पैंतीसवें से लगाकर इकतालीसवां चातुर्मास

भगवान का पैंतीसवां (कैवल्य प्राप्ति के बाद 23वां) वर्षाकाल वैशाली में, छत्तीसवां (24वां) मिथिला में, सैंतीसवां (25वां) राजगृह में, अड़तीसवां (26वां) नालंदा में, उन्तालीसवां (27वां) फिर मिथिला में, चालीसवां (28वां) फिर से मिथिला में और इकतालीसवां (29वां) राजगृह में व्यतीत हुआ।[2]

इस प्रकार भगवान महावीर केवली अवस्था में 30 वर्ष तक एक स्थान से दूसरे स्थान पर विहार करते रहे; केवल चातुर्मास में ही वे एक स्थान पर ठहरते। इस लंबी अवधि में अपनी दिव्य वाणी से उन्होंने असंख्य नर-नारियों का कल्याण किया। निर्ग्रंथ धर्म के सिद्धांतों की व्याख्या की, श्रमण-संघ को पुनः संगठित किया, श्रमण और श्रमणियों के अनुशासन को सुदृढ़ बनाया, निर्ग्रंथ धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिए अपने शिष्यों को अनुप्राणित किया, राजा-महाराजाओं, रानी-महारानियों तथा बिना किसी भेदभाव के सामान्य स्त्री-पुरुषों को श्रमण धर्म में दीक्षित किया और अनेकों को श्रावक और श्राविकाओं के व्रत देकर निर्ग्रंथ धर्म का अनुयायी बनाया।

वर्षा ऋतु समाप्त हो जाने पर तीर्थंकर भगवान् का कुछ समय राजगृह में ही बीता। तत्पश्चात् वे राजगृह से विहार करते-करते मज्झिम पावा पधारे और चातुर्मास बिताने के लिए हस्तिपाल राजा के पटवारी

1. सूत्रकृतांग (2. 7)।
2. देखिए, गोपालदास जीवभाई पटेल, श्री महावीरकथा 1950 मुनि कल्याण-विजय श्रमण भगवान महावीर, वि. सं. 1975। 42 चातुर्मासों के नामों के लिए देखिए, कल्पसूत्र (5.123) जिनप्रभसूरि, विविधतीर्थकल्प के अंतर्गत अपापाबृहत्कल्प।

के दफ्तर में ठहर गये। उनकी आयु के 72 वर्ष पूरे होने आये थे। 30 वर्ष तक उन्होंने गृहवास किया, 12 वर्ष तप किया और 30 वर्ष केवली अवस्था में रहे। यह उनका अंतिम—बयालीसवां चातुर्मास था। वर्षा-काल के तीन महीने बीत चुके थे, चौथा महीना लगभग आधा बीतने को आया। उनका निर्जल उपवास था। उपदेश की अंतिम धारा चालू थी, पुण्य और पाप संबंधी सारगर्भित उपदेश उनकी दिव्यध्वनि से निःसृत हो रहे थे। कार्तिक मास की कृष्ण-पक्ष की अमावस की रात्रि आ पहुंची। शिष्यों का समुदाय अंतिम दर्शनों के लिए एकत्र था। शनैः-शनैः मन, वचन और काया में स्थिरता आने लगी। ध्वनि रुक गयी, स्पंदन बंद हो गया और अंग-प्रत्यंग निश्चल रह गये। चेतना न जाने कहां विलीन हो गयी! यह निर्वाण की अवस्था थी! समस्त कर्मों का नाश हो गया, महामुनि ने परमपद को पा लिया, जहां अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं था।

काशी-कोशल के अट्ठारह तथा नौ मल्ल और नौ लिच्छवी गण-राजाओं के पास जब यह समाचार पहुंचा तो बड़ी धूमधाम से निर्वाण-महोत्सव मनाया गया। सर्वत्र दीपक जगमगाने लगे। दीपों की आवलि से अमावस की काली रात ज्योतिर्मय हो उठी। आज भी इस पुनीत पर्व की याद में दीपावली का महोत्सव मनाया जाता है।[1] महावीर निर्वाण की चर्चा सर्वत्र फैल गयी। भुवन-प्रदीप सदा के लिए बुझ गया! किसी ने कहा—"संसार की एक दिव्य विभूति उठ गयी है, संसार शोभाविहीन हो गया है; भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित उपदेशों को हम घर-घर पहुंचायेंगे!"

ईसा के 527 वर्ष पूर्व की यह घटना है। भगवान महावीर को निर्वाण गये अढ़ाई हजार वर्ष हो चुके, जिसके उपलक्ष्य में सारे भारत में भगवान का 2500वां निर्वाण-महोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया।

---

[1] देखिये, कल्पसूत्र (5, 122-28); गुणचंद्रगणि महावीरचरियं, प्रस्ताव (8); जिनसेन, हरिवंशपुराण; गुणभद्र, उत्तरपुराण।

4. महावीर वाणी का संकलन

भगवान महावीर ने अपनी वाणी द्वारा किन-किन विषयों का विवेचन किया, इसकी विस्तृत जानकारी तो उपलब्ध नहीं है, किंतु उनके प्रमुख शिष्यों ने उनके उपदेश के मुख्य-मुख्य अंशों को अपनी स्मृति में सुरक्षित रखने का प्रयत्न अवश्य किया। परंपरा के अनुसार अर्हत् भगवान ने अपने गणधरों को जो कुछ निरूपण किया, उसे उन्होंने जैन-शासन के हित के लिए सूत्र रूप में निवद्ध किया। इसे आगम, श्रुतज्ञान अथवा सिद्धांत नाम से कहा जाता है। आगमों में सबसे प्राचीन अंग हैं; इनकी संख्या बारह है, इन्हें द्वादशांग कहते हैं। बौद्धों के त्रिपिटक की भांति द्वादशांग को गणिपिटक भी कहा गया है।

दिगंबर और श्वेतांबर दोनों ही की मान्यता है कि महावीर की वाणी उनके गणधरों द्वारा द्वादशांग में निबद्ध की गयी। भगवान के 11 गणधर हैं। सभी ने अपनी-अपनी वाचना के अनुसार द्वादशांग की रचना की। दिगंबर परंपरा के अनुसार भगवान के प्रथम गणधर गौतम इंद्रभूति ने द्वादशांग की रचना की, जबकि श्वेतांबर परंपरा में वर्तमान में उपलब्ध 11 अंग महावीर के पांचवें गणधर सुधर्मा द्वारा रचित माने जाते हैं।

वर्तमान आगम ग्रंथों का कितना अंश महावीर द्वारा प्रतिपादित है तथा कितना उनके गणधरों और उत्तरकालीन आचार्यों द्वारा यह जानने के साधन हमारे पास नहीं हैं। महावीर निर्वाण की प्रारम्भिक शताब्दियों तक श्रुतज्ञान की इस परंपरा का आधार गुरुमुख ही रहा है। ऐसी हालत में उत्तरोत्तर काल में श्रुत का विच्छेद होना आश्चर्य की बात नहीं। आश्चर्य यही है कि फिर भी उसका कुछ अंश बना रहा। परिणामस्वरूप वर्तमान आगमों में कितने ही स्थानों पर आमूल परिवर्तन हो गये हैं, नये नाम दाखिल हो गये हैं, उनके परिमाण में ह्रास हो गया है और अनेक

वृद्ध परंपराएं और संप्रदाय खंडित हो गए हैं। कितने ही स्थलों पर आगमों के सूत्र अस्पष्ट हैं और उनका स्पष्टीकरण करने के लिए टीकाकारों ने अपनी व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। स्वयं टीकाकारों के कथनानुसार उनकी कितनी ही व्याख्याएं संतोषप्रद नहीं हैं; कितने ही स्थलों पर आचार्यों के मतभेदों का उल्लेख है। इस सबसे यही पता चलता है कि आगम सिद्धांत के विच्छिन्न हो जाने से प्राचीन जैन-साहित्य को काफी क्षति उठानी पड़ी।

वर्तमान में उपलब्ध आगम साहित्य केवल श्वेतांबर परंपरा में मान्य है, दिगंबर परंपरा में नहीं। दिगंबर परंपरा के अनुसार गुरु-शिष्य परंपरा से मौखिक रूप में चला आता हुआ महावीर का उपदेश क्रमशः विलुप्त होता गया। किंतु द्वादशांग का कुछ अंश अग्रायणीपूर्व के कर्मप्रकृति नामक अधिकार के ज्ञाता आचार्य धरसेन को याद था। इन्होंने परंपरागत श्रुत का लोप न होने देने के लिए महावीर-निर्वाण के 614-83 के बीच पुष्पदंत और भूतबलि नामक अपने दो मेधावी शिष्यों को इस सिद्धांत की शिक्षा दी जिसके आधार पर द्रविड़ देश में जाकर उन्होंने षट्खंडागम की रचना की। दिगंबर संप्रदाय के अनुसार, षट्खंडागम में बारहवें अंग दृष्टिवाद—जिसमें चौदह पूर्वों का अंतर्भाव होता है—का कुछ अंश सुरक्षित है। दिगंबर संप्रदाय में यही आगम सर्वाधिक प्राचीन है जिसका समय ईस्वी सन् की पहली या दूसरी शताब्दी माना जाता है। श्वेतांबर परंपरा में दशवैकालिक सूत्र के कतिपय अध्ययन तथा ओघनिर्युक्ति, बृहत्कल्प, निशीथ, व्यवहार आदि कतिपय आगम ग्रंथ पूर्व ग्रंथों से उद्धृत माने गये हैं।

जैन-आगमों की संकलनाएं

बौद्ध त्रिपिटक को संकलित करने के लिए बौद्ध भिक्षुओं की तीन संगीतियों की भांति जैन-आगमों को सुव्यवस्थित करने के लिए जैन श्रमणों के तीन सम्मेलन बुलाये जाने का उल्लेख जैन ग्रंथों में मिलता है। प्रथम सम्मेलन महावीर-निर्वाण के 160 वर्ष पश्चात् (ईसा पूर्व 367) पाटलि-

पुत्र (पटना) में बुलाया गया। चंद्रगुप्त मौर्य काल में मगध में वड़ा दुर्भिक्ष पड़ा जिससे जैन साधु ग्राचार्य भद्रबाहु के नेतृत्व में ग्रन्यत्र विहार कर गये। शेष साधु स्थूलभद्र के नेतृत्व में वहीं रह गये। दुर्भिक्ष समाप्त होने पर पाटलिपुत्र में जैन साधुग्रों का एक सम्मेलन हुग्रा। इस सम्मेलन में द्वादशांग का जो ग्रंश जिसे याद था, उसे व्यवस्थित कर उसका संकलन कर लिया गया। इस प्रकार ग्यारह ग्रंगों का तो संकलन हो गया, बारहवां दृष्टिवाद किसी को याद नहीं था, इसलिए वह रह गया। इसे पाटलि-पुत्र वाचना कहा जाता है।

इसके बाद महावीर-निर्वाण के लगभग 827 या 840 (ईसवी सन् 300-313) वर्ष बाद फिर से ग्रागमों के संकलन की ग्रावश्यकता महसूस हुई। इसके लिए ग्रार्य स्कंदिल के नेतृत्व में दूसरा सम्मेलन मथुरा में हुग्रा। इस समय भी दुष्काल के कारण ग्रागम-साहित्य को काफी क्षति पहुंची। दुर्भिक्ष समाप्त होने के बाद भरने वाले इस सम्मेलन में जो ग्रंश जिसे स्मरण था, एकत्र कर लिया गया। इसे माथुरी वाचना के नाम से जाना जाता है। वर्तमान ग्रागम साहित्य में कितने ही ग्रागम ऐसे हैं जिनका संकलन इसी वाचना के ग्राधार से किया गया, ग्रतएव यह वाचना महत्वपूर्ण है।

ग्रागमों को ग्रौर ग्रधिक व्यवस्थित रूप देने के लिए तीसरा सम्मेलन महावीर-निर्वाण के लगभग 980 या 993 वर्ष बाद (ईसवी सन् 453-66) माथुरी वाचना के ग्रनुयायी प्रतिभा संपन्न ग्राचार्य देवर्धिगणि क्षमा-श्रमण के नेतृत्व में वलभी (वल्वा, सौराष्ट्र) में ग्रायोजित किया गया। विविध वाचनाग्रों पर ग्राधारित जैन-ग्रागमों के विषयों को लेकर जो ग्रसंगतियां पैदा हो गयीं थीं, उनका समन्वय करने का प्रश्न जैन श्रमणों के सामने था। इस सम्मेलन में वाचना-भेद ग्रौर पाठ-भेद का समन्वय माथुरी वाचना के ग्राधार से करने का प्रयत्न किया गया। इसके साथ साथ समस्त ग्रागम-साहित्य को लिपिबद्ध करने का महत्वपूर्ण कार्य भी इस सम्मेलन में हुग्रा। दृष्टिवाद के उपलब्ध न होने के कारण उसे नष्ट घोषित कर दिया गया। श्वेतांबर संप्रदाय द्वारा मान्य वर्तमान ग्रागम

ईसवी सन् की 5वीं शताब्दी में होने वाली इसी संकलना का परिणाम है।

जैसा कहा जा चुका है, महावीर-निर्वाण के लगभग 1000 वर्ष बाद संकलित जैन आगमों के स्वरूप में निश्चय ही अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन पैदा हुए होंगे। जैन आगमों के टीकाकारों ने आगम संबंधी कितने ही पाठांतरों का उल्लेख अपनी टीकाओं में किया है। इन पाठांतरों के कारण अर्थ में विसंवाद उपस्थित हो जाने की ओर भी उन्होंने लक्ष्य किया है। अर्थ में विसंवादपूर्ण स्थिति को दूर करने के लिए कितने ही स्थलों पर मूल समझे जाने वाले पाठों में व्याख्याकारों को संशोधन करना पड़ा। जहां तक आगमों की मूल भाषा का प्रश्न है, उसकी स्थिति तो और भी चिंताजनक है। भगवान महावीर ने जिस अर्धमागधी भाषा में अपना प्रवचन दिया होगा, महावीर-निर्वाण के 100 वर्ष बाद तो निश्चय ही वह काफी बदल चुकी होगी। वस्तुतः आगमों की जो मूल भाषा रही होगी, वह उन्हें लिपिबद्ध करने के समय नहीं रही, और जो उन्हें लिपिबद्ध करने के समय रही होगी वह वर्तमान आगमों में नहीं है। इसके अतिरिक्त, जैन धर्म के प्रचार के लिए देश-देश में भ्रमण करने वाले जैन आचार्यों की भाषा पर उन-उन प्रदेशों में बोली जाने वाली लोकभाषा का प्रभाव भी अवश्य पड़ा होगा। इससे भी आगमों की भाषा में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। विभिन्न आगम-ग्रंथों में प्राकृत व्याकरण के रूपों की विविधता का पाया जाना, आगमों की भाषा में परिवर्तन होने का प्रमाण है।

दिगंबर और श्वेतांबर परंपराएं

बुद्ध-परिनिर्वाण के पश्चात् बुद्ध के वचनों को लेकर जिस प्रकार बौद्ध परंपरा में हीनयान, महायान आदि मतभेदों की स्थापना हुई, वही बात अवश्य ही कुछ कम मात्रा में, लगभग महावीर के वचनों के संबंध में हुई। इस संबंध में जैन-आगमों में प्रतिपादित सात निह्नवों के नाम उल्लेखनीय हैं। निह्नव का अर्थ है अस्वीकृति, संशय अथवा संदेह; अर्थात् भगवान के वचनों को लेकर इन निह्नवों के प्रतिष्ठिताओं का मतभेद हो गया और

उन्होंने अपना निज मत स्थापित किया। इनमें जामालि का नाम सप्रथम आता है, वे भगवान महावीर के भानजे भी थे और जामाता भी। महावीर के पादमूल में उनके श्रामण्य दीक्षा ग्रहण करने की बात पहले कही जा चुकी है। महावीर के जीवन-काल में ही, उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति के 14 वर्ष बाद, इस निह्नव का प्रवर्तन हुआ। इसके दो वर्ष बाद चतुर्दश पूर्वधारी आचार्य वसु के शिष्य तिष्यगुप्त दूसरे निह्नव के प्रवर्तक हुए। शेष पांच निह्नवों की उत्पत्ति महावीर भगवान् के निर्वाण के पश्चात् हुई। सातवें निह्नव की उत्पत्ति का समय महावीर-निर्वाण के 584 वर्ष बाद बताया गया है। इन निह्नवों का अत्यंत संक्षिप्त रूप जैन आगमों की टीकाओं में मिलता है, इनके स्वरूप की विस्तृत जानकारी नहीं मिलती। दिगंबर परंपरा में निह्नवों का उल्लेख नहीं पाया जाता।

इस संदर्भ में दिगंबर-श्वेतांबर मतभेद विचारणीय है। महावीर के समय यह मतभेद नहीं था। उत्तरकालीन श्वेतांबर ग्रंथों में बोटिक निह्नव अर्थात् दिगंबर संघ नामक आठवें निह्नव का उल्लेख है जिसकी उत्पत्ति महावीर निर्वाण के 609 वर्ष पश्चात् बतायी गयी है। जहां तक मोक्ष-प्राप्ति के लिए वस्त्र धारण करने का प्रश्न है, उपलब्ध श्वेतांबर आगमों में सवस्त्र और अवस्त्र दोनों ही परंपराओं का उल्लेख है; अर्थात् जो साधु बिना वस्त्र रहना चाहते, वे वस्त्र धारण न करते, और जो ऐसा करने में असमर्थ होते वे वस्त्र धारण कर लेते। श्वेतांबर परंपरा के अनुसार, भगवान महावीर वस्त्र धारण नहीं करते थे जबकि पार्श्वनाथ के शिष्य सवस्त्र रहते थे। केशी-गौतम संवाद में भी वस्त्र को लेकर उठाये गये केशी के प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम ने यही कहा कि वस्त्र आदि बाह्य वेष केवल साधन-मात्र है, मुख्य बात चित्त की शुद्धि है। इससे यही प्रमाणित होता है कि उस समय तक दिगंबर-श्वेतांबर मतभेद पैदा नहीं हुआ था।

महावीर के पश्चात् गौतम, इंद्रभूति, सुधर्मा और जंबूस्वामी की परंपरा दिगंबर और श्वेतांबर दोनों ही संप्रदायों द्वारा मान्य है। महावीर-निर्वाण के पश्चात्, केवलज्ञान की प्राप्ति होने तक, आर्य सुधर्मा ने जैन

संघ का नेतृत्व किया। फिर संघ का भार अपने शिष्य जंबूस्वामी को सौंप कर 100 वर्ष की अवस्था में निर्वाण पाया। जंबूस्वामी अंतिम केवली थे, उनके बाद से केवलज्ञान और निर्वाण के द्वार बंद हो गये। इसके बाद दोनों की परंपरा भिन्न हो जाती है[1]। दिगंबर परंपरा में विष्णु, नंदी, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु तथा श्वेतांबर परंपरा में प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, संभूतविजय और भद्रबाहु नाम के पांच श्रुतकेवली हुए। भद्रबाहु को दोनों संप्रदायों ने चौदह पूर्वों का ज्ञाता अंतिम श्रुतकेवली माना है। आचार्य भद्रबाहु का समय पाटलिपुत्र-वाचना का समय है जबकि आगमों को व्यवस्थित रूप देने के लिए जैन श्रमणों का प्रथम सम्मेलन बुलाया गया था।

इसके अतिरिक्त मथुरा के कंकाली टीले में जो 2000 वर्ष प्राचीन जैन तीर्थंकरों की नग्न मूर्तियां मिली हैं, वे दिगंबर और श्वेतांबर दोनों ही संप्रदायों द्वारा पूज्य थीं। इससे सिद्ध होता है कि ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी के आरंभ में भी दोनों में कोई मतभेद नहीं था। दोनों संप्रदायों के प्राचीन साहित्य में परंपरागत विषय और उससे संबंधित गाथाओं की समानता से भी यही प्रमाणित होता है कि दोनों का स्रोत एक था।

जान पड़ता है कि वस्त्र का प्रश्न इन दोनों संप्रदायों के मतभेद में प्रमुख कारण बना है। इस दृष्टि से दिगंबर (नग्न-वस्त्र रहित) और श्वेतांबर (श्वेत वस्त्र सहित) शब्द संकेतपूर्ण हैं। यद्यपि वस्त्र संबंधी चर्चा पार्श्वनाथ के अनुयायी श्रमणकुमार केशी और महावीर के अनुयायी गौतम इंद्रभूति के समय से चली आ रही थी, लेकिन ईसवी सन् की पहली शताब्दी के अंतिम चरण में इस विवाद ने स्थायी स्वरूप ले लिया। इस समय महावीर-निर्वाण के 609 वर्ष पश्चात (ई. 83) श्वेतांबर संप्रदाय द्वारा दिगंबरों की, और दिगंबर संप्रदाय द्वारा राजा विक्रमादित्य की मृत्यु के 136 वर्ष पश्चात् (ई. 80)[1] श्वेतांबरों की उत्पत्ति का उल्लेख

---

1. दिगंबर की एक दूसरी परंपरा भी है। सम्राट चंद्रगुप्त के समय (ई. पू. चौथी शताब्दी पाटलिपुत्र में बारह वर्षीय दुर्भिक्ष पड़ने पर भाद्रबाहु अपने संघ को लेकर दक्षिण

किया गया है। दोनों ने एक-दूसरे को प्रतिवाद कहा है। आगम साहित्य के विच्छेद से आगमों में उत्पन्न होने वाली विसंगतियों के कारण दिगंबर-श्वेतांबर मतभेद को बल मिला। मूल परंपरा के विस्मृत हो जाने पर भगवान महावीर के जीवन को लेकर भी दोनों संप्रदायों के मतभेदों में वृद्धि हुई। आगे चलकर दिगंबर और श्वेतांबरों की मूर्तियां अलग-अलग रूप में पूजी जाने लगीं, तथा उनकी पूजा की विधि, क्रियाकांड आदि में शनैः-शनैः उत्तरोत्तर अंतर बढ़ता गया। वास्तव में देखा जाय तो प्रायः वाह्य क्रियाकांड को लेकर ही दोनों संप्रदायों में मतभेद है, महावीर के मौलिक सिद्धांतो का जहां तक प्रश्न है, उनमें कोई मतभेद नजर नहीं आता।

1467 में श्वेतांबर संप्रदाय में स्थानकवासी संप्रदाय की उत्पत्ति हुई। इसके प्रवर्तक लौंकाशाह अहमदाबाद के रहने वाले थे। यह संप्रदाय ढूंढिया (खोज करने वाला) नाम से भी कहा जाता है। मूर्तिपूजा को ये नहीं मानते। इस संप्रदाय के अनुयायियों के धर्मस्थल स्थानक कहे जाते हैं जहां कोई मूर्ति प्रतिष्ठित नहीं रहती। जिन आगमों में मूर्तिपूजा का उल्लेख है उन्हें ये स्वीकार नहीं करते। अपने साधुओं के प्रति ये लोग अत्यंत श्रद्धाशील रहते हैं। पठन-पाठन के अतिरिक्त कितने ही स्थानक-वासी समाज-सुधार के कार्यों में भाग लेते हुए दिखाई देते हैं। स्थानक-वासी संप्रदाय के अनुयायी उत्तर भारत में जगह-जगह फैले हुए हैं।

आज से लगभग दो सौ वर्ष पहले आचार्य भिक्षु अथवा भीखणजी ने तेरापथ की स्थापना की थी। तेरापंथ के साधु-साध्वियों का अपना कोई धर्म-स्थान नहीं होता। वे जहां जाते हैं, वहां स्थान मांगकर ठहर जाते हैं। आचार्य तुलसी इस पंथ के नौवें आचार्य हैं जो सैकड़ों साधु-साध्वियों एवं कई लाख श्रावक-श्राविकाओं का नेतृत्व कर रहे हैं। अणुव्रत आंदो-लन के वे प्रवर्तक हैं। श्री जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा की ओर से जैन आगमों के प्रकाशन का महत्वपूर्ण कार्य संपन्न किया जा रहा है।

भारत बिहार कर गये। स्थूलभद्र अपने संघ के साथ मगध में ही रहे। दुर्भिक्ष समाप्त होने पर जब भद्रबाहु, शिष्य लौटकर मगध आये तो उन्होंने मगध में रहने वाले साधुओं के आचार में काफी परिवर्तन पाया। ये साधु श्वेत वस्त्र पहनने लगे थे, जबकि दक्षिण से लौटे हुए साधु महावीर की भांति नग्न रहते थे।

5. श्रमण संघ का धर्मप्रचार

लिच्छवी अपनी गण अथवा संघ व्यवस्था के लिये प्रसिद्ध रहे हैं। भगवान महावीर ने लिच्छवी कुल में जन्म लिया था, अतएव उनकी संघ-व्यवस्था से वे अवश्य प्रभावित रहे होंगे। पार्श्वनाथ की भांति महावीर का संघ भी चार भागों में विभक्त था—श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका। इसे चतुर्विध संघ कहा जाता है। इस अवस्था में केवल श्रमण-श्रमणियों की, और श्रावक-श्राविकाओं की ही देख भाल नहीं करते थे, किंतु श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविका भी एक दूसरे को धर्म में सुदृढ़ रखने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। जैन साधु सुदूर देशों में भ्रमण कर निर्ग्रंथ धर्म का प्रचार करते और समाज में अहिंसा की भावना फैलाते; गृहस्थ इनके भोजन, पान, ठहरने के स्थान आदि की व्यवस्था कर धर्म-प्रचार में सहायक बन पुण्य का उपार्जन करते।

भगवान महावीर ने अपने श्रमण संघ को सुदृढ़ रखने के लिए, कठोर अनुशासन का विधान किया है। उन्होंने कहा है: "हे आयुष्मान श्रमणो? अपनी इंद्रियों पर अंकुश रक्खो; सोते, जागते, उठते, बैठते, चलते-फिरते सदा जागरूक रहो, क्षण भर भी प्रमाद न करो, न जाने कब, कहां से और कौन-सा प्रलोभन आकर तुम्हें अपने मार्ग से गिरा दे। अतएव जैसे कोई कछुआ अपने आपकी विपत्ति से रक्षा करने के लिए अपने अंग-प्रत्यंगों को अपनी खोपड़ी में छिपा लेता है, उसी प्रकार तुम भी अपने मन को काबू रक्खो और अपनी चंचल मनोवृत्तियों को इधर-उधर भटकने से रोको।"

जैन श्रमण पांच महाव्रतों का पालन करते हुए अपने लिए अथवा अपने उद्देश्य से बनाया हुआ भोजन ग्रहण न करते, निमंत्रित होकर भोजन न करते, तथा कंद-मूल, फल आदि त्यागकर भिक्षावृत्ति से निर्वाह करते।

मतलव यह कि ऐसा कोई भी, कृत्य वे न करते जिससे दूसरों को किंचिन्मात्र भी क्लेश पहुंचे।

कायक्लेश द्वारा मन और इंद्रियों के ऊपर विजय प्राप्त करने का आदर्श महावीर ने अपने तपस्वी जीवन में प्रस्तुत किया था। महावीर के उत्तरवर्ती शिष्यों और प्रशिष्यों ने इसी आदर्श का अनुकरण किया। अपने भौतिक शरीर के प्रति उनका किंचिन्मात्र भी ममत्व नहीं रह गया था। उनकी तपस्या महान् थी।

भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी, मान-अपमान, लाभ-अलाभ आदि परीषहों के अतिरिक्त जैन श्रमणों को और भी अनेक प्रकार की भयंकर यातनाएं सहनी पड़ती थीं। धर्मोपदेश के लिए उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर विहार करना होता। आवागमन के मार्ग खतरों से खाली नहीं थे। हिंस्र जंतुओं से पूर्ण भयानक जंगल पार करने पड़ते, तथा जंगली जातियों और चोर-डाकुओं द्वारा किये हुए उपद्रवों को सहन करना पड़ता। दुर्गम पर्वत, नदी-नाले और रेगिस्तान को पार करके आगे बढ़ना होता। वर्षा के कारण नदियों में बाढ़ आ जाने से रुके रहना पड़ता और सड़कों के अभाव में मार्ग-भ्रष्ट होने का भय बना रहता। राज्य में उपद्रव हो जाने के कारण साधु बड़े संकट में पड़ जाते। ऐसे समय श्रमणों को गुप्तचर समझकर पकड़ लिया जाता और उन्हें वध-बंधन आदि का कष्ट सहन करना पड़ता। विधर्मी राजा जैन-श्रमणों को देश से निर्वासित कर देता, उनका भोजन-पान रोक देता, धर्मोपकरण छीन लेता अथवा उनके चरित्र को हनन करने की चेष्टा करता। जैन उपासकों की संख्या उन दिनों कम थी, इसलिए साधुओं को किसी बस्ती में ठहरने की आज जैसी सुविधा न थी। श्रमणों को किसी वृक्ष के नीचे एकांतवास करने के लिए बाध्य होना पड़ता। रोग और दुर्भिक्षजन्य कष्ट भी कुछ कम न थे। कितनी ही वार कोई भयंकर उपसर्ग होने पर, दुर्भिक्ष फैल जाने पर, वृद्धावस्था आ जाने पर, अथवा किसी भयंकर रोग से पीड़ित होने पर धर्म के लिए उन्हें शरीर का त्याग करना पड़ता।

जैन श्रमणों की भांति जैन साध्वियां भी जैन संघ का विशिष्ट अंग

थीं। साधुओं की भांति उन्हे भी घर-घर जाकर भिक्षावृत्ति करनी पड़ती। स्पष्ट है कि साधुओं की अपेक्षा साध्वियों को अधिक अनुशासन और नियंत्रण का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। साधुओं को आदेश है कि वे जहां तक बने, साध्वियों की पूरी-पूरी रक्षा करें जिससे कि उनका शीलव्रत अखंडित रह सके।

जहां तक स्त्रियों का प्रश्न है, बौद्धों की भांति जैनों ने भी स्त्री जाति को कम दोषी नहीं ठहराया, फिर भी महावीर उनके विषय में बुद्ध की अपेक्षा कुछ अधिक उदार जान पड़ते हैं। पार्श्वनाथ और महावीर ने अपने संघ में उन्हें उचित स्थान प्रदान किया है। बौद्ध धर्म के आरंभ में बौद्ध संघ को भिक्षु, उपासक और उपासिका, इन तीन भागों में विभक्त किया गया था, भिक्षुणी के लिए स्थान नहीं था। बुद्ध की मौसी महाप्रजापति गौतमी को बुद्ध का यह पक्षपात रुचिकर न हुआ। उसने बुद्ध भगवान से स्त्रियों को भी बौद्ध संघ में दीक्षित करने के लिए अनुरोध किया। बुद्ध ने महाप्रजापति गौतमी की बात मान तो ली किंतु उन्हें कहना पड़ा कि उस हालत में बौद्ध संघ केवल पांच सौ वर्ष तक ही शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन कर सकेगा।

जैन धर्म के उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लि को मल्लिकुमारी कहा गया है, यद्यपि दिगंबर संप्रदाय में उन्हें पुरुष ही माना है। राजीमती जब गिरनार पर्वत पर तपस्या में लीन थीं तो उन्हें देखकर अरिष्टनेमि के भ्राता रथनेमि का मन चंचल हो उठा। उस समय अनेक उदाहरणों और दृष्टांतों द्वारा शिक्षा देकर राजीमती ने उन्हें संयम में स्थिर किया। पार्श्वनाथ के श्रमणी संघ का नेतृत्व करने वाली पुष्पचूला तथा महावीर की प्रथम शिष्या आर्य चंदना के बारे में कहा जा चुका है। उनके मार्गदर्शन में सम्यक्चारित्र का पालन करते हुए अनेक साध्वियों ने परम पद की प्राप्ति की। अन्य श्राविका महिलाओं में जयंती, सुलसा, रेवती आदि के नाम लिए जा सकते हैं। वस्तुतः मनुष्य मात्र में भेद न मानने वाले निर्ग्रंथ संप्रदाय में जातिभेद की भांति लिंगभेद के लिए भी कोई स्थान न होना चाहिए। किंतु लगता है कि आगे चलकर जब नग्नता को लेकर

दिगंबर-श्वेतांबर मतभेद पैदा हुआ तो स्त्री-मुक्ति के प्रश्न को भी इसके साथ जोड़कर स्त्रियों के मुक्ति पाने के अधिकार का अपहरण कर लिया गया।

जैन धर्म का प्रचार

जैन श्रमण अपना संघ बनाकर किसी आचार्य के नेतृत्व में जनपद-विहार करते। वर्षा ऋतु में चार महीने वे एक स्थान पर रहते, बाकी आठ महीने आत्मशुद्धि के लिए—किसी महान आचार्य आदि के संपर्क में आकर अपने आपको धर्म में स्थिर रखने के लिए—एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते। इन श्रमणों का देश-देश की भाषाओं में कुशल होना आवश्यक था जिससे कि वे जनसामान्य को आसानी से अपने उपदेश से लाभान्वित कर सकें। वहां के रीति-रिवाजों की जानकारी इस लिए जरूरी थी जिससे कि उन्हें उपहास का भाजन न बनना पड़े। पद-यात्रा की यह परंपरा पार्श्वनाथ और महावीर से चली आ रही थी।

केवलज्ञान होने के पश्चात् तीर्थंकर महावीर जब साकेत (अयोध्या) में विहार कर रहे थे तो जैन श्रमण और श्रमणियों को लक्ष्य करके उन्होंने कहा था: "निर्गंथ और निर्ग्रंथिनी साकेत के पूर्व में अंग-मगध तक, दक्षिण में कौशांबी तक, पश्चिम में स्थूणा (स्थानेश्वर) तक और उत्तर में कुणाला (श्रावस्ती जनपद) तक विहार कर सकते हैं। ये ही क्षेत्र आर्यक्षेत्र हैं, इसके बाहर नहीं। इतने ही क्षेत्रों में साधु-साध्वियां ज्ञान, दर्शन और चरित्र को निर्दोष रूप से पाल सकते हैं।" इससे पता लगता है कि उन दिनों जैन श्रमणों ने इन्हीं प्रदेशों में विहार किया था, सुदूर प्रदेशों में वे नहीं पहुंच सके थे।

राजघरानों में जैनधर्म

जैन ग्रंथों में भगवान महावीर के सम-सामयिक अनेक राजा-महाराजाओं का उल्लेख आता है जो जैन परंपरा के अनुसार-निर्ग्रंथ धर्म के अनुयायी थे; इनमें से कितनों ही को महावीर ने श्रमण धर्म की दीक्षा

दी थी। उदाहरण के लिए, जैन ग्रंथों में 18 गणराजाओं के नेता वैशाली के राजा चेटक, राजगृह के श्रेणिक बिंबसार, चंपा के कूणिक अजातशत्रु, कौशांबी के राजा उदयन, चंपा के राजा दधिवाहन, उज्जैन के राजा प्रद्योत, वीतिभय के राजा उद्रायण आदि को जैन धर्मानुयायी कहा गया है। इनमें दो-चार को छोड़कर बाकी राजाओं के संबंध में कोई ऐतिहासिक जानकारी नहीं मिलती। काशी-कोशल के गणराजाओं के प्रमुख चेटक जैसे गणराजाओं का इतिहास में उल्लेख नहीं। बौद्ध ग्रंथों में भी चेटक का नाम नहीं आता। चंपा के राजा दधिवाहन और उद्रायण के संबंध में भी हम कुछ नहीं जानते, सिवाय इसके कि बौद्ध ग्रंथों में उद्रायण को रुद्रायण कहा गया है। प्राचीन जैन आगमों में उद्रायण का नाम महावीर द्वारा दीक्षित आठ राजाओं के साथ आता है, किंतु जैन टीकाकारों ने इन राजाओं के संबंध में कुछ खुलासा नहीं किया जिससे कि इनकी ऐतिहासिकता पर प्रकाश पड़ सके। चंपा के राजा दधिवाहन की कन्या चंदनबाला (आर्य चंदना) का उल्लेख भगवान महावीर के भिक्षुणी-संघ की गणिनी के रूप में आता है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

जैन परंपरा के अनुसार, राजा श्रेणिक ने भगवान् महावीर से अनेक प्रश्नों का खुलासा मांगा और ये प्रश्न आगे चलकर जैन आगमों में निबद्ध किये गये। कूणिक का जन्म राजा श्रेणिक की रानी चेलना से हुआ था। चेलना विदेह के राजा चेटक की कन्या थी, इसलिए कूणिक को विदेहपुत्र कहा गया है। भगवान महावीर के चंपा में समवसृत होने पर राजा कूणिक का अपने दल-बल के साथ उनके दर्शनार्थ जाने का वर्णन औपपातिक सूत्र में मिलता है। श्रेणिक बिंबसार और कूणिक अजातशत्रु की भांति, कौशांबी के राजा उदयन और उज्जैन के राजा अवंतिपति प्रद्योत का उल्लेख भी बौद्ध त्रिपिटकों में आता है। श्रेणिक बिंबसार और कूणिक अजातशत्रु आदि को जैसे जैन परंपरा में जैन-धर्म का अनुयायी कहा है, वैसे ही बौद्ध परंपरा में उन्हें बौद्ध धर्म का अनुयायी माना है। इससे यही जान पड़ता है कि उन दिनों धार्मिक कट्टरता इतनी प्रबल नहीं थी तथा शासकगण विभिन्न संप्रदायों के प्रति समान आदर का भाव व्यक्त कर

अपनी उदार वृत्ति का परिचय देते थे।

आर्य-क्षेत्रों की सीमा में वृद्धि

कहा जा चुका है कि भगवान महावीर के साधु-साध्वियों का विहार-क्षेत्र प्रायः बिहार, बंगाल और उत्तरप्रदेश तक ही सीमित था, इन्हीं क्षेत्रों को भगवान महावीर ने आर्य-क्षेत्र कहा था। किंतु महावीर के लगभग 300 वर्ष पश्चात् जैन श्रमण-संघ के इतिहास में एक ऐसा समय आया जब जैन श्रमण सुदूर प्रदेशों में गमन करने लगे। बौद्ध धर्म के प्रचार व प्रसार के लिए जो कार्य सम्राट अशोक (ई. पू. 274-237) के हाथों हुआ, वही कार्य जैन परंपरा के अनुसार जैन धर्म का प्रचार करने के लिए अवंति के राजा संप्रति (ई. पू. 220-211) ने किया; यद्यपि इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक नहीं मिला है। राजा संप्रति नेत्रहीन कुणाल के पुत्र थे। कुणाल अशोक का पुत्र, बिंदुसार का पौत्र और चंद्रगुप्त का प्रपौत्र था, तथा नेत्रहीन होने के कारण उसे राजपद नहीं मिल सका था। जैन परंपरा में जैन आचार्य आर्य सुहस्ति का उपदेश श्रवण कर राजा संप्रति जैनधर्म के परम भक्त बन गए। परम धार्मिक की उपाधि से उन्हें विभूषित किया गया। उन्होंने नगर के चारों दरवाजों पर दानशालाएं खुलवाईं, और जैन श्रमणों के भोजन-पान आदि का समुचित प्रबंध किया। अपने अधीनस्थ सामंत राजाओं को उन्होंने श्रमणों की पूजा-भक्ति करने का आदेश दिया। राजा संप्रति ने अपने भटों को शिक्षा देकर साधु-वेष में सीमांत देशों में भेजा जिससे जैन श्रमणों को शुद्ध भोजन पान का लाभ मिल सके। दक्षिणापथ में विशेषकर आंध्र, द्रविड़, महाराष्ट्र और कुर्ग (कुडुक्क) आदि देशों में जैनधर्म के प्रचार का श्रेय अवंतिपति संप्रति को ही दिया गया है।[1] कहा जाता है कि इस समय साढ़े पच्चीस देश, जिनमें सिंधु-सौवीर, लाढ़ तथा आधा केकयी (राजधानी श्वेतिका) भी शामिल हैं, जैन श्रमणों के विहार के योग्य माने जाने लगे। इस प्रकार

1. दिगंबर संप्रदाय में चंद्रगुप्त मौर्य के काल में दक्षिण भारत में जैन धर्म का प्रवेश हो गया था। लेकिन इसका भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

हम देखते हैं कि जैन धर्म का उदय बिहार (उन दिनों बंगाल, बिहार और उड़ीसा राज्य अलग-अलग नहीं थे) में हुआ, वहां से उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों में फैला। महावीर-निर्वाण के पश्चात सौराष्ट्र, गुजरात (गुजरात और राजस्थान एक थे), उत्तरप्रदेश के पश्चिमी जिलों, मध्य-प्रदेश, विदर्भ, कोकण और महाराष्ट्र होते हुए दक्षिण भारत में आंध्र, द्रविड़ और कुर्ग आदि प्रदेशों में पहुंच गया। आजकल अपने जन्म स्थान बिहार में जैनधर्म नहीं के बराबर है।

हाथीगुंफा के सम्राट खारवेल के शिलालेख से पता लगता है कि ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी में कलिंग (उड़ीसा) जैनधर्म का केंद्र था। खारवेल ने मगध से जिन प्रतिमा लाकर यहां स्थापित की। भुवनेश्वर के पास उदयगिरि और खंडगिरि नामक पहाड़ियों को काटकर जो सुंदर गुफाएं बनाई गयीं हैं, उनमें 100 गुफाएं जैन हैं जो कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। उत्तरापथ में मथुरा में सुवर्णस्तूप होने का उल्लेख मिलता है। बादशाह अकबर के जमाने में साहू टोडर ने इसका जीर्णोद्धार कराया था। यह प्राचीन स्तूप आजकल कंकाली टीले के रूप में मौजूद है जिसकी खुदाई में पुरातत्व संबंधी महत्वपूर्ण सामग्री मिली है। कनिष्क काल के जो शिला-लेख यहां उपलब्ध हुए हैं, उनसे पता लगता है कि ईसवी सन् की पहली शताब्दी में जैनों का यह प्रमुख केंद्र था।

सौराष्ट्र (काठियावाड़) में राजा संप्रति ने जैन धर्म का प्रचार किया था। द्वारका के उत्तर-पूर्व में स्थित गिरनार पर्वत (रैवतक) पर अरिष्ट-नेमि ने निर्वाण लाभ किया। ईसवी सन् की पहली या दूसरी शताब्दी में यहां की चंद्रगुफा में आचार्य धरसेन ने अपने शिष्य आचार्य भूतबलि और पुष्पदंत को अवशिष्ट श्रुतज्ञान के लिपिबद्ध करने का आदेश दिया था। ईस्वी सन् की पांचवीं शताब्दी में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में होने वाली वलभी वाचना का उल्लेख आ चुका है। यहां आचार्य देवर्धिगणि की मूर्ति स्थापित है। गुजरात और राजस्थान जैन आचार्यों की प्रवृत्तियों के केंद्र रहे हैं। मध्यकालीन युग में जितना जैन साहित्य इस प्रदेश में लिखा गया उतना अन्यत्र नहीं। 12वीं शताब्दी में चालुक्य नरेश सिद्धराज

ग्रौर उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल के काल में गुजरात में जैन-धर्म अपने उत्कर्ष पर पहुंच गया था। कलिकाल-सर्वज्ञ रूप से प्रख्यात चारों विद्याओं के समुद्र आचार्य हेमचंद्र के उपदेश से इन राजाओं ने जैनधर्म स्वीकार किया जिससे कि गुजरात जैनधर्म का एक सुदृढ़ केंद्र बन सका। गुजरात की राजधानी अणहिल्लपुर पाटण में आचार्य हेमचंद्र ने राजा सिद्धराज के अनुरोध पर सिद्धहेमशब्दानुशासन व्याकरण की रचना की। इस व्याकरण को हाथी पर प्रतिष्ठित कर राज-दरबार में लाया गया। आचार्य हेमचंद्र की दूसरी अनमोल कृति देसीनाममाला है जो गुजराती भाषा के क्रमिक विकास के अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। राजा कुमारपाल ने लाखों रुपये खर्च कर शत्रुंजय (पालि-ताना) के मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया। पाटण, खंभात, ईडर, लिंबडी, आदि स्थानों में शास्त्रों की रक्षा के हेतु ज्ञान भंडार स्थापित कर धर्म की प्रभावना की गयी। आबू की गणना जैनों के प्रमुख तीर्थ-स्थानों में की गयी है। यहां आदिनाथ और नेमिनाथ के विश्वविख्यात संगमरमर के बने जैन मंदिर हैं जो स्थापत्यकला की दृष्टि से अनुपम हैं। मंत्री विमलशाह और तेजपाल ने लाखों रुपया व्यय करके इन मंदिरों को बनवाया है। 12वीं-13वीं शताब्दी में यहां और भी मंदिरों का निर्माण हुआ जिससे यह स्थान (देवलवाड़ा—मंदिरों का नगर) नाम से विख्यात हो गया।

उत्तर भारत की भांति दक्षिण भारत में भी जैन धर्म खूब फूला-फला। गंग, कदंब, राष्ट्रकूट, चालुक्य और होयसल वंश के राजाओं ने जैनधर्म और जैन विद्वानों को आश्रय प्रदान किया। गंग वंश के राज्यकाल में गोम्मटेश्वर बाहुबलि की मूर्ति प्रतिष्ठित की गयी। 27 फुट ऊंची यह विशालकाय मूर्ति एक ही शिला को काटकर बनायी गयी है। यह दुनिया के आश्चर्यों में गिनी जाती है। जैन धर्म के प्रति कदंब राजाओं की असीम आस्था का ही यह परिणाम है कि यह धर्म कर्णाटक में फैल सका। राष्ट्र-कूट वंश के राजाओं के साथ जैनधर्म का घनिष्ठ संबंध रहा है। राष्ट्र-कूटों की राजधानी मान्यखेट के राजवंशियों ने जैनकला और साहित्य को उन्नत बनाने में जो योगदान दिया वह चिरस्थायी रहेगा। जिनसेन,

गुणभद्र, शाकटायन, पुष्पदंत, सोमदेव, पंप आदि कितने ही प्रतिभाशाली दिगंबर आचार्य इस काल की उपज हैं जिन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और कन्नड़ में अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना कर जैन साहित्य के भंडार को समृद्ध बनाया। चालुक्य राजवंश के काल में जैनधर्म को संरक्षण मिला। कन्नड़ भाषा के सुप्रसिद्ध कवि रत्न इसी समय हुए। होयसल राजवंशियों ने जैन मंदिर और आश्रमों का जीर्णोद्धार कराकर जैनधर्म के प्रचार में विषेष योगदान दिया। इस प्रकार दक्षिण भारत में कर्णाटक तमिलनाडु, आंध्र आदि जैनधर्म के केंद्र बन गये।

6. महावीर के उपदेश

भगवान महावीर के उपदेशों की खोज करने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं, उनका खुद का जीवन उनके उपदेशों की खुली पुस्तक है। भर-जवानी में संसार की मोह-माया छोड़, बरसों वे इधर-उधर भ्रमण करते रहे, हृदय को कंपा देने वाली रोमांचकारी यातनाओं को सहन किया और पर-कल्याण के लिए बरसों ग्रामानुग्राम पदयात्रा करते रहे। भगवान महावीर के जीवन पर यदि हम गंभीरतापूर्वक जागरूक होकर सोचने और समझने की चेष्टा करें तो इसमें तीर्थंकर के सभी उपदेशों का समावेश हो जाता है।

एक गणराजा के परिवार में पैदा होने के कारण ऐश्वर्य-संपदा की महावीर को कमी नहीं थी। इस ऐश्वर्य का वे मनचाहा उपभोग कर सकते थे। फिर भी संसार त्यागकर तपस्वी बनने की उत्कट अभिलाषा उनके मन में क्यों जाग्रत हुई? क्या तपस्वी बनने का उन दिनों आम रिवाज था कि लोग सिर के सफेद बाल को धर्मदूत समझ या वर्षाकालीन बादलों को क्षणभर में विलीयमान देख, भावुकतावश दीक्षाग्रहण कर लेते थे? या फिर इसका कोई गंभीर, सामाजिक, आर्थिक या बौद्धिक कारण रहा होगा? क्या मात्र निजहित के लिए लोग संसार छोड़कर चले जाते थे? क्या सामाजिक अशांति एवं अव्यवस्था का वातावरण उनके मन में क्षोभ नहीं पैदा करता था? क्या धन-संपत्ति के तारतम्य के कारण गणराजाओं का आपसी संघर्ष, वर्ण एवं जातिगत ऊंच-नीच भाव, राजकीय दमन तथा दासों, शूद्रों और स्त्रियों का शोषण सामाजिक विद्रोह की भावना नहीं जगाता था?

फिर भगवान महावीर ने कायक्लेश पर इतना जोर क्यों दिया? क्या वह शुष्क आत्मदमन का ही रूप था? क्यों उन्होंने अहिंसा को परम

धर्म माना ? और वह अहिंसा भी सामान्य अहिंसा नहीं—मन से, वचन से और काया से प्राणिमात्र को कष्ट न पहुंचाने की अंतर्वृत्ति। अहिंसा धर्म को पालने वाले के लिए सत्य होने पर भी कटुवचन बोलने का निषेध है। उसे सतत अप्रमादी रहने - यत्नाचारपूर्वक वर्तन करने का—आदेश है। काम-भोगों में ममत्वबुद्धि को हिंसा, तथा मन और इंद्रियों का निग्रह कर अपनी प्रवृत्तियों को संकुचित करने को अहिंसा कहा गया है। अहिंसा को परिपुष्ट बनाने के लिए साथ में संयम, तप, त्याग और अपरिग्रह को जोड़ा गया। लोक-व्यवहार में विवेकशीलता प्राप्त करने और दूसरे के दृष्टिकोण को ठीक-ठीक समझने के लिए अनेकांतवाद की मोहर लगायी गयी। अनेकांतवाद वस्तुतः अहिंसा का ही विकसित और व्यापक रूप है। महावीर की अहिंसा केवल देवी-देवताओं को प्रसन्न करने वाली पशु-घातक वैदिक हिंसा के विरोध में ही प्रकट नहीं हुई थी, इसका स्वरूप इससे भी अधिक व्यापक और विस्तृत था। सामाजिक विषमता के विरुद्ध यह एक जबर्दस्त चुनौती थी जिसके माध्यम से धन-संपत्ति तथा ऊंच-नीच की भावना से पैदा होने वाले पारस्परिक द्वेष, घृणा, कलह और अहंकार के विरुद्ध आवाज बुलंद की जा रही थी। अपने जीवन द्वारा महावीर ने सिद्ध करके बताया कि दूसरों का शोषण कर, दूसरों की धन-संपत्ति पर नजर रख और दूसरों को हीन समझकर यशस्वी बनने की अभिलाषाएं कभी तृप्त नहीं होतीं। इसके लिए तो न्याय और नीति का अवलंबन लेते हुए कठोर अनुशासन की आवश्यकता है। अहिंसा का यह स्वरूप व्यक्तिपरक नहीं था, इसमें सारी दुनिया के कल्याण की सर्वतो-मुखी भावना अंतर्निहित है।

अहिंसा

अहिंसा की आवश्यकता बताते हुए आचारांग सूत्र में कहा है—"सबको अपना-अपना जीवन प्रिय है, सब सुख चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता, वध कोई नहीं चाहता, सबको जीवन प्यारा है और सब कोई जीने की इच्छा रखते हैं।" तो फिर क्या करना चाहिए ? "दुख को समझने वाले,

दुःख को अहितकारी मानते हैं। जैसे वे अपने सुख-दुःख को जानते हैं, वैसे ही दूसरों के सुख-दुःख को भी जानते हैं, और जैसे दूसरों के सुख-दुःख को समझते हैं, वैसे ही अपना भी सुख-दुःख समझते हैं।" मतलब यह कि जो बात अपने लिए प्रतिकूल है, उसे दूसरों के लिए भी प्रतिकूल समझनी चाहिए; और जो अपने लिए सुखकर है उसे दूसरों के लिए भी सुखकर मानना चाहिए। यह अहिंसा की आधार शिला है।

जैन शास्त्रों में अहिंसा के साथ संयम और तप को भी उत्कृष्ट धर्म कहा है। संयम का अर्थ है अपने मन पर, अपनी इंद्रियों पर काबू रखना। संसार में कितने प्रलोभन ऐसे हैं जो हमारे मन को दुविधा में डाल देते हैं, अपने उद्देश्य से हमें चल-विचल कर देते हैं और हम अपना संतुलन खो बैठते हैं। परिणाम यह होता है कि अपनी हविस पूरी करने के लिए हम तरह-तरह के छल-छिद्र करते हैं। कभी क्रोध, कभी मान, कभी माया और कभी लोभ के वशीभूत होकर हम दूसरे को गिराने की कोशिश करते हैं, असहिष्णु बन जाते हैं और स्वार्थ के वश होकर जो न करने योग्य है, उसे कर डालते हैं। इससे दूसरों को कष्ट पहुंचता है और समाज में अनीति का वातावरण तैयार होता है। मन की इसी वृत्ति को हिंसा कहा गया है।

संयम के बिना अहिंसा का पालन नहीं हो सकता और संयम के लिए तप और त्याग की—अपरिग्रह की—परम आवश्यकता है। भगवान महावीर के तप का लक्ष्य शुष्क देह-दमन नहीं था, लौकिक यश अथवा कीर्ति-लाभ के लिए भी उन्होंने तप का मार्ग नहीं अपनाया। उनकी शारीरिक कठोर साधना का एकमात्र उद्देश्य था अपनी काया को आराम-तलब न बनाकर अपने आराम का त्याग कर देना। मानसिक साधना का लक्ष्य भी यही था कि अपने मन और इंद्रियों पर नियंत्रण प्राप्त कर मानसिक हिंसा से बचना। तप के संबंध में दिगंबर और श्वेतांबर सभी आचार्यों ने एक स्वर से घोषणा की है—"नग्न रहने से और पंचाग्नि तप तपने से तप नहीं होता; तप होता है ज्ञानपूर्वक आचरण करने से।"

अपरिग्रह

अहिंसा को अधिक व्यावहारिक बनाने के लिए अपरिग्रह की आवश्यकता बतायी गयी है। अपरिग्रह का अर्थ केवल वस्त्र आदि का त्याग कर देना ही नहीं; इसका अर्थ है ममत्व का त्याग। जिस वस्तु की कम से कम मात्रा में जितनी आवश्यकता है, उतनी ही ग्रहण करना अपरिग्रह है। दुनिया के सारे लड़ाई-झगड़े संग्रह करने की मनोवृति के साथ जुड़े हुए हैं। हर कोई चाहता है कि वह अधिक धन-संपदा का संचय कर. अधिक से अधिक शक्तिशाली कहलाए और सुखी बने। और बस द्वंद्वयुद्ध शुरू हो जाता है, छीना झपटी होने लगती है; यही हिंसा है। चक्रवर्ती राजाओं का दिग्विजय के लिए प्रयाण—पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक, समुद्र के उस पार तक, विजय प्राप्त कर चक्रवर्ती राजा कहलाने की महत्वाकांक्षा—सत्ता की लोलुपता नहीं तो और क्या है? सच तो यह है कि यदि परिग्रह बटोरने की इच्छा पर अंकुश न लगाया जाय तो इस जमीन पर शांतिपूर्वक चलना भी दूभर हो जाय। बाइबिल में एक कहानी आती है: ईसामसीह ने किसी धनाढ्य व्यक्ति को धर्म का उपदेश देते हुए कहा—"यदि तुझे जीवन में प्रवेश करना हो तो हिंसा करना छोड़ दे, परस्त्री की ओर मुंह उठाकर न देख, चोरी करना छोड़ दे, झूठ बोलना छोड़ दे, अपने माता-पिता को आदर की दृष्टि से देख और अपने पड़ोसियों से प्रेम रख।" अपने पैगंबर की बात सुनकर वह व्यक्ति क्षण भर चुप रहने के बाद बोला: "प्रभो! इन बातों का मैं तो बचपन से ही पालन करता आया हूं।" ईसामसीह ने कहा: "यदि ऐसी बात है तो जा, अपनी सारी संपत्ति बेचकर उससे जो कुछ प्राप्त हो उसे गरीबों में बांट दे। ऐसा करने से तुझे दिव्यज्ञान की प्राप्ति होगी।" लेकिन क्या हम कुछ अंश तक भी अपने धर्माचार्यों के उपदेश स्वीकार करने को तैयार हैं?

जैन सूत्रों में जगह-जगह अंतरंग शुद्धि पर जोर देते हुए बाह्य शुद्धि को अंतरंग शुद्धि का एक साधन मात्र कहा है। सूत्रकृतांग और समयसार में उल्लेख है: "भले ही कोई नग्न अवस्था में रहे, और महीने-महीने

उपवास करे, किंतु यदि उसके मन में माया है तो उसे कभी सिद्धि मिलने वाली नहीं।" भगवान महावीर ने अपने शिष्यों से कहा है : "हे श्रमणो! पहले अपने आपसे युद्ध करो, आत्मशुद्धि की ओर कदम बढ़ाओ, बाहर के युद्ध से कुछ न होगा।" तथा "किसी वस्तु की प्राप्ति न होने से उस वस्तु की ओर उपेक्षित हो जाना त्याग नहीं। सच्चा त्याग वह है कि मनुष्य सुंदर और प्रिय लगने वाले भोगों को पाकर भी उनकी ओर मुंह मोड़ लेता है" (दशवैकालिक)। मतलब यह कि परिग्रह हिंसा का साधन है इसलिए त्याज्य है।

अनेकांतवाद

अपरिग्रह की भांति अनेकांतवाद भी अहिंसा का ही उप-सिद्धांत है। अहिंसा का यह बौद्धिक रूप है। जैसे अहिंसक वृत्ति—अप्रमाद भाव—पालने के लिए अपरिग्रह—ममत्व बुद्धि का त्याग—की आवश्यकता है, उसी प्रकार अहिंसा को स्थायित्व प्रदान करने के लिए अनेकांतवाद की जरूरत है। सारी बातें इतनी जटिल और उलझी हुई हैं कि प्रयत्न करने पर भी हम उन्हें वास्तविक रूप में समझने में असमर्थ हैं। उनका केवल एक अंश ही हम समझ पाते हैं। इसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए जैन आगम ग्रंथों में एक ही वस्तु को द्रव्य की अपेक्षा एक, ज्ञान-दर्शन की अपेक्षा अनेक, तथा किसी अपेक्षा से अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य रूप से प्रतिपादित किया गया है। जामालि की शंका का समाधान करते हुए भगवतीसूत्र में महावीर भगवान ने जीव और लोक को किसी अपेक्षा से शाश्वत और किसी अपेक्षा से अशाश्वत कहा है।

इस विश्व की अंतहीन रहस्यमय बातों और दार्शनिक सिद्धांतों को जाने दीजिए, हम छोटी-छोटी बातों को भी उनके सही परिप्रेक्ष्य में नहीं समझ पाते। हमारे दैनिक जीवन में कितने ही प्रसंग ऐसे उपस्थित होते हैं कि हम अपने पूर्व आग्रह के कारण, जाने-अनजाने अपने मन की राग अथवा द्वेषजन्य वृत्ति के कारण, अपने विरोधी की बात समझने में असमर्थ रहते हैं—उसकी बात सुनने तक का धीरज खो देते हैं। उस समय

अपनी बात के समर्थन में दी हुई युक्ति हमारी बुद्धि का ही अनुगमन करने लगती है, ऐसी बुद्धि जो हमारी पहले से निश्चित की हुई धारणाओं पर आधारित है। क्षण भर के लिए हम भूल जाते हैं कि विरोधी पक्ष के कथन में भी सचाई का अंश हो सकता है। इस एकांगी मनोवृत्ति का परिणाम होता है क्रोध, अंधानुकरण और संघर्ष, जो कि हिंसा के ही विविध रूप हैं। इसी तथ्य को समझाने के लिए अनेकांतवाद का प्रतिपादन किया गया है। अनेकांतवाद का अर्थ है एकांत दृष्टि का त्याग—बौद्धिक सहिष्णुता—मानसिक अहिंसा। मतलब है यह कि केवल अहिंसक भावना से—अप्रमत्त भावना से—वर्तन करना ही काफी नहीं, इस भावना को बुद्धि-संगत बनाने की आवश्यकता है। इस मनोवृत्ति को प्राप्त करने के लिए उपशम भाव की—साम्य भाव की—आवश्यकता है जिससे कि हम आग्रह छोड़ निष्पक्ष भाव से दूसरे के दृष्टिकोण को समझ सकें—उसकी बात को पूर्वापर संबंध से संयुक्त कर अपेक्षित रूप में जान सकें। अतएव अनेकांतवादी को सहिष्णु होना चाहिए—अपनी राग अथवा द्वेष से पैदा होने वाली मनोवृत्ति पर उसका नियंत्रण रहना चाहिए। ऐसा होने पर ही वह दूसरे की बातों को, विरोधी दर्शन के वक्तव्यों को सही तौर पर समझ सकता है और मध्यस्थ भावना से विरोधों का समन्वय करने में सक्षम हो सकता है। इस प्रकार के मध्यस्थ भाव को समस्त शास्त्रों का गूढ़ रहस्य या निचोड़ कहा गया है। मध्यस्थ भाव आ जाने पर शास्त्रों के एक पद का ज्ञान भी सार्थक है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों का पाठ कर जाने से भी कुछ होने वाला नहीं। पूर्ण सत्य अवक्तव्य है, वह कहा नहीं जा सकता; केवल भिन्न-भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को लेकर प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सत्य को हृदयगम करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार अनेकांतवाद अहिंसा का ही समर्थक है।

कर्मसिद्धांत

कर्मसिद्धांत भी अहिंसा की ही एक महत्वपूर्ण कड़ी है। यह सिद्धांत

हमें स्वावलंबन सिखाता है। "जैसा करोगे वैसा भरोगे, जैसा बोओगे, वैसा काटोगे, यदि अच्छे कर्म करोगे तो अच्छा फल मिलेगा, बुरा करोगे तो बुरा होगा। किसी भी हालत में कर्म से छुटकारा मिलने वाला नहीं" संक्षेप में यही कर्म का सिद्धांत है। हमारे मन में जब कोई अच्छा या बुरा विचार आता है, मन में क्रिया का संचार होता है तो जड़ कर्म चेतन आत्मा के साथ जुड़ जाता है, उसी तरह जैसे तेल लगे हुए शरीर पर धूल के कण जम जाते हैं। कर्म के इस बंधन को रोकना आवश्यक है। वह कर्मबंध संयम, तप, त्याग और आत्मदमन से रोका जा सकता है। कर्मों का निरोध होने के बाद जैसे-जैसे हम आत्मशुद्धि की ओर अग्रसर होते हैं, कर्मों का नाश होता जाता है और फिर समस्त कर्मों का नाश हो जाने से परमपद की प्राप्ति हो जाती है—संसार का आवागमन बंद हो जाता है, जन्ममरण से छुटकारा मिल जाता है, और आत्मा परमात्मा बनकर अनंतज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य का अनुभव करने लगती है।

भगवान महावीर ने जीवन में कर्म की प्रमुखता का प्रतिपादन करते हुए बताया कि मनुष्य अपने ही कर्म से, अपने ही पुरुषार्थ से सब कुछ कर सकता है—ऊंचे से ऊंचा पद पा सकता है। अपने भाग्य के विधान के लिए किसी बाह्य दैवी शक्ति पर अवलंबित रहने की आवश्यकता नहीं। जैन धर्म में किसी एक, सर्वव्यापी, स्वतंत्र और नित्य ईश्वर को स्वीकार नहीं किया गया जिसने इस जगत की सृष्टि की हो, और जो हमारे शुभ-अशुभ कर्मों का फल दाता हो। जब मनुष्य मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से विमुक्त हो जाता है और कर्मों का नाश हो जाता है, तो वह आत्मविकास की परमोच्च दशा को—ईश्वरीय स्थिति को—प्राप्त कर लेता है। कर्मसिद्धांत परावलंबन की भावना का निराकरण कर हमें पुरुषार्थी बनने के लिए प्रेरित करता है।

कर्म की प्रधानता

कर्म को प्रमुख मानने से जन्म अथवा जाति का महत्व निरर्थक हो

जाता है। सम्यग्दर्शन से संपन्न चांडाल कुल में उत्पन्न पुरुष को इसीलिए वंदनीय कहा है कि महावीर के उपदेशों में जाति को न मानकर कर्म पर जोर दिया गया है। राजा श्रेणिक स्वयं उच्च आसन पर बैठकर किसी चांडाल से कोई विद्या सीखना चाहता था लेकिन जब तक उसने चांडाल को अपने आसन पर बैठाकर उसका आसन ग्रहण नहीं कर लिया तब तक उसे विद्या की सिद्धि नहीं हुई। जयघोष मुनि जब विजयघोष ब्राह्मण की यज्ञशाला में भिक्षा के लिए उपस्थित हुए तो विजयघोष ने यह कहकर मुनि को टरका दिया, कि उसकी यज्ञशाला में केवल वेदपाठी ब्राह्मण को ही भिक्षा मिल सकती है। इस पर जयघोष मुनि ने जो उपदेश दिया, वह विचारणीय है। उन्होंने कहा—"जिसने राग, द्वेष और भय पर विजय पायी है, जो सदाचारी, तपस्वी और जितेंद्रिय है, हिंसा नहीं करता, असत्य भाषण नहीं करता, बिना दी हुई वस्तु को दूसरों की समझकर ग्रहण नहीं करता, काम-भोगों में लिप्त नहीं रहता, उसे ब्राह्मण कहते हैं। सिर मुंडा लेने मात्र से कोई श्रमण नहीं कहलाता, ओंकार का जाप करने मात्र से ब्राह्मण नहीं हो जाता, वन में वास करने मात्र से मुनि नहीं कहा जाता और कुश के वस्त्र पहनने मात्र से तपस्वी नहीं बन जाता। समता भाव से श्रमण, ब्रह्मचर्य पालन से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप के आचरण से तपस्वी होता है। मनुष्य अपने ही कर्म से ब्राह्मण, अपने ही कर्म से क्षत्रिय, अपने ही कर्म से वैश्य और अपने ही कर्म से शूद्र कहा जाता है।" इस प्रसंग पर वैदिक यज्ञों को संयम और तप के साथ जोड़कर उनकी परिभाषा ही बदल दी गयी। वेद के अनुयायी ब्राह्मणों को लक्ष्य करके कहा गया है : "हे यज्ञ करने वाले ब्राह्मणो! तुम लोग नाहक ही क्यों जल को शुद्ध मानकर बाह्य शुद्धि की खोज में लगे हुए हो? दर्भ, यज्ञ का खंबा, तृण, काष्ठ और अग्नि का उपयोग करके तथा सुबह-शाम शरीर को शुद्ध करके तुम लोग अज्ञानवश यज्ञ में प्राणियों का वध कर रहे हो। इससे तुम्हारे पाप में ही वृद्धि होती है।" "सच्चा यज्ञ इंद्रियों का निग्रह करना है, तप उस यज्ञ की अग्नि है, जीव अग्नि का स्थान है, मन, वचन और काय उसकी कड़छुली है, शरीर अग्नि को प्रदीप्त करने

वाला साधन है, कर्म ईंधन है तथा संयम शांति का मंत्र है। जितेंद्रिय पुरुष धर्म के जलाशय में स्नानकर, ब्रह्मचर्य रूपी शांति के तीर्थ में पवित्र होकर शांति-यज्ञ करते हैं। यही यज्ञ है। यही धर्म है।"

7. जैन संस्कृति का योगदान

भारत में जैनों की संख्या बहुत ज्यादा नहीं है। 1971 की जनगणना के अनुसार कुल मिलाकर लगभग 26 लाख जैन धर्मानुयायी हैं जो तमाम जनसंख्या के आधे प्रतिशत से भी कुछ कम हैं। जैनधर्म के अनुयायी दिगंबर, श्वेतांबर, स्थानकवासी और तेरापंथ—इन चार फिरकों में बंटे हुए हैं। दिगंबर प्राय: दक्षिण, उत्तर और मध्य भारत में, और श्वेतांबर गुजरात, राजस्थान, मध्य भारत और पंजाब-हरियाणा में फैले हुए हैं। अधिकांश जैन व्यापार और उद्योग-धंधों में लगे हैं, महाराष्ट्र और कर्णाटक के कुछ जैन खेती भी करते हैं। व्यापारी होने के कारण सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में उनका प्रभाव है। अपनी उदारता और दानशीलता के लिए वे प्रसिद्ध हैं। उनकी कितनी ही शिक्षा-संस्थाओं और आश्रमों में मुफ्त शिक्षा दी जाती है और अस्पतालों में मुफ्त इलाज होता है। पुराने जमाने से ही जैनों का शासन-व्यवस्था के साथ संबंध रहा है। हिंदू और मुसलमानों के शासनकाल में उन्होंने राजमंत्री, सेनापति, श्रेष्ठी, कोषाध्यक्ष, जौहरी, सार्थवाह आदि के पदों पर कार्य किया है। बादशाह अकबर ने विजयसूरि को 'धर्मगुरु' की पदवी से सम्मानित कर उनके उपदेश से पर्यूषण पर्व (दशलक्षणी) के दिनों में अपने राज्य में हिंसा न करने का फरमान जारी किया था। राजस्थान में मुगल सेनाओं के दांत खट्टे करने वाले महाराणा प्रताप के शासन काल में सुप्रसिद्ध भामाशाह ने जो अपना सर्वस्व अर्पण करने का प्रस्ताव कर अपनी राष्ट्रभक्ति का परिचय दिया, वह इतिहास में चिरस्थायी रहेगा।

लौकिक साहित्य की रचना

धर्म, साहित्य और न्याय-नीति के प्रचार व प्रसार में जैन श्रमणों का

योगदान कम नहीं है। धर्म-प्रचार के लिए ग्रामानुग्राम विहार करने वाले जैन श्रमणों का स्वाध्याय और पठन-पाठन हमेशा चलता रहता था। अपना क्षण भर भी वे व्यर्थ न गंवाते थे। धार्मिक एवं लौकिक विषयों पर सैकड़ों ग्रंथों की रचना कर इन श्रमणों ने जो साहित्य के भंडार को भरा है, उससे उनकी अध्ययनशीलता और अध्यवसायी प्रवृत्ति का पता चलता है। काव्य, कोष, व्याकरण, अलंकार और छंदशास्त्र के अलावा इन आदरणीय महापुरुषों ने अर्थशास्त्र, वैद्यक, वृक्षायुर्वेद, पुष्पायुर्वेद, धनुर्वेद, गंधर्ववेद, रमलविद्या, ज्योतिष, हस्तरेखा, मंत्र-तंत्र, रत्नपरीक्षा, द्रव्य परीक्षा, वास्तुसार, अश्वशास्त्र, हस्तशिक्षा मृगपक्षिशास्त्र, पाकशास्त्र, आदि कितने ही उपयोगी लौकिक विषयों पर अपनी विद्वत्तापूर्ण लेखनी चलायी है।

कथा-साहित्य का निर्माण

कथा-साहित्य के क्षेत्र में जैन श्रमणों ने अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। अपनी बात को उदाहरणों और दृष्टांतों द्वारा धार्मिक कथा-कहानी के रूप में प्रस्तुत करने की परंपरा भगवान महावीर के समय से चली आती है। जैन श्रमण अपने उपदेश को सरल, बोधगम्य एवं लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से कथा-कहानियों का उपयोग किया करते थे। कितनी ही बार धर्म-कथाओं में शृंगार का पुट देकर उन्हें रुचिकर बनाने की आवश्यकता होती, उसी प्रकार जैसे कोई वैद्य कड़वी दवा को शक्कर की चासनी में पागकर रोगी को देता है। इस दृष्टि से अनेकानेक लोकप्रिय कथाग्रंथों और कथाकोषों की रचना जैन आचार्यों ने की है जो तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के अध्ययन की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी है।

ज्ञाताधर्मकथा में ज्ञातृपुत्र महावीर की धर्मकथाओं का बड़े बोधप्रद रोचक ढंग से वर्णन किया गया है। अंडक अध्ययन में मयूरी के दो अंडों के माध्यम से धर्मोपदेश दिया गया है :

चंपा नगरी में जिनदत्त और सागरदत्त नाम के दो सार्थवाह रहते थे।

दोनों के एक-एक पुत्र था। एक बार दोनों के पुत्र नगरी के बाहर उद्यान में विहार करने गये। वहां एक मालुका-कुंज में मोरनी ने अंडे दिये थे। सार्थवाह-पुत्रों की आहट सुनकर मोरनी डर गयी और वहां से उड़कर पास के एक वृक्ष की डाल पर जा बैठी। सार्थवाह-पुत्रों ने मालुका-कुंज में प्रवेश किया तो उन्हें दो सुंदर अंडे दिखाई दिये। उन अंडों को घर लाकर उन्होंने मुर्गी के अंडों के साथ रख दिया।

यह निश्चय करने के लिए कि उसके अंडे में से मोर का बच्चा निकलेगा या नहीं, सागरदत्त का पुत्र अपने अंडे को बार-बार हिलाता-डुलाता और अपने कान में बजाकर देखता। इस प्रकार बार-बार हिलाने-डुलाने से उसका अंडा निर्जीव हो गया और उसमें से मोर का बच्चा पैदा नहीं हुआ। यह देखकर सागरदत्त का पुत्र बहुत दुःखी हुआ। लेकिन जिनदत्त के पुत्र को विश्वास था कि उसके अंडे में से अवश्य ही मोर का बच्चा पैदा होगा। यह सोचकर न कभी वह उसे हिलाता-डुलाता और न कभी कान में बजाकर देखता। समय बीतने पर जब उसके अंडे में से मोर का बच्चा पैदा हुआ तो जिनदत्त के पुत्र की खुशी का ठिकाना न रहा। जिनदत्त के पुत्र ने मयूरपोषकों को बुलाकर अपने बच्चे को नृत्यकला की शिक्षा देने का आदेश दिया। थोड़े ही समय में मोरनी का वह बच्चा नृत्यकला में कुशल हो गया।

सारांश : जो श्रमण-निर्ग्रंथ आचार्य के निकट प्रव्रज्या ग्रहण कर अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांच महाव्रतों में शंकाशील रहता है, व्रत-नियमों का ठीक आचरण नहीं करता, वह सागरदत्त के पुत्र की भांति पश्चाताप करता है, जो संसार परिभ्रमण का कारण होता है।

परंतु जो श्रमण-निर्ग्रंथ जिनदत्त के पुत्र की भांति प्रवचन में शंकाशील नहीं रहता, निश्शंक भाव से व्रतों और नियमों का पालन करता है, वह संसार-सागर से पार उतर जाता है।

एक दूसरी कथा लें :

वाराणसी के उत्तर-पूर्व में गंगा किनारे एक बड़े दह में अनेक मगर-

मच्छ, कछुए और घड़ियाल आदि जलचर रहा करते थे। पास ही में मालुका-कुंज में दो मांस-लोलुपी गीदड़ रहते थे। दोनों गीदड़ रात्रि के समय वहां मांस की खोज में आते; दिन में कहीं छिपे पड़े रहते।

एक बार की बात है, सूर्यास्त हो जाने पर दो कछुए अपने द्रह में से निकलकर बाहर आये और आहार की खोज में इधर-उधर घूमने लगे। उस समय वे दोनों गीदड़ भी वहीं चक्कर लगा रहे थे। उन्होंने उन कछुओं को देखा और उनकी घात लगाकर बैठ गये।

कछुओं ने जब गीदड़ों को अपनी ओर आते हुए देखा तो उन्होंने डर कर अपने अंग-प्रत्यंगों को अपनी खोपड़ी में सिकोड़ लिया और निश्चल होकर बैठ गए। कछुओं को देखकर दोनों गीदड़ उनके पास आये, उन्हें हिलाने-डुलाने लगे, उठाकर देखने लगे और उन पर अपने नाखून मारने लगे। लेकिन दोनों कछुए चुपचाप बैठे रहे। दो-तीन बार गीदड़ों ने ऐसा ही किया। आखिर वे थककर चले गये और चुपचाप एकांत में जा बैठे।

उनमें से एक कछुए को जब पता लगा कि गीदड़ वहां से चले गये हैं तो उसने धीरे से एक पांव अपनी खोपड़ी में से बाहर निकाला। यह देखकर कुछ दूरी पर बैठे हुए गीदड़ ने कछुए के पांव पर झपट्टा मारा। गीदड़ ने उसके पांव को नोंच डाला और उसे दांतों से चबा गया। कछुए के अन्य अवयवों को भी गीदड़ चट कर गया।

यह सोचकर कि दूसरे कछुए का मांस भी उन्हें खाने को मिलेगा, वे गीदड़ उस कछुए के पास आए। उसे उन्होंने इधर-उधर हिलाया-डुलाया, घुमाया-फिराया। दो-तीन बार ऐसा किया। किंतु वह कछुआ निश्चल पड़ा रहा। अंत में दोनों गीदड़ हार मानकर वहां से चले गये।

गीदड़ों को दूर गये जानकर कछुए ने धीरे-धीरे अपनी गर्दन को खोपड़ी के बाहर निकाल कर चारों ओर दूर तक देखा। फिर अपने चारों पांव बाहर निकाले। फिर जल्दी-जल्दी अपने द्रह की ओर चला। द्रह में पहुंच, अपने सगे-संबंधियों से मिलकर वह बहुत प्रसन्न हुआ।

सारांश : जो श्रमण-निर्ग्रंथ प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् अपनी इंद्रियों को वश में न रख, स्वच्छंद भाव से आचरण करते हैं, उन्हें पहले

कछुए की भांति अनेक यातनाएं सहन करनी पड़ती है और संसार में परिभ्रमण करना होता है । इसके विपरीत, जो श्रमण और श्रमणी पांच महाव्रतों को पालते हैं, अपनी समस्त इंद्रियों पर नियंत्रण रखते हैं, वे दूसरे कछुए की भांति दुःखों से मुक्त होकर सुगति प्राप्त करते हैं और संसार-सागर से पार हो जाते हैं ।

धन्य और उसकी पतोहुओं की कहानी में भी इसी प्रकार के उपदेश का समावेश है :

राजगृह के धन्य नामक व्यापारी ने उज्भिका, भोगवती, रक्षिका और रोहिणी नाम की अपनी चार पतोहुओं में से प्रत्येक को धान के पांच-पांच दाने दिये । उसने कहा कि जब वह उन दानों को वापस मांगे, तो वे उन्हें लौटा दें ।

पहली पतोहू ने सोचा, "ससुर जी के कोठार में मनों धान भरे पड़े हैं । जब वे मांगेंगे, उनके कोठार में से उठाकर दे दूंगी ।" उसने उन दानों को फेंक दिया । दूसरी पतोहू धान के दानों का छिलका उतार कर उन्हें खा गयी । तीसरी ने उन्हें एक स्वच्छ वस्त्र में बांध अपनी रत्नों की पिटारी में रख लिया और अपने सिरहाने रख सुबह-शाम उनकी चौकसी करने लगी । चौथी ने वर्षा ऋतु आने पर उन धानों को खेत में बुआ दिया । जब धान पीले पड़ गये, उन्हें कटवाकर और साफ कराकर घड़ों में भरवा, कोठार में रखवा दिया । दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवें वर्ष भी इसी तरह उनकी बुवाई और कटाई की गयी ।

पांच वर्ष गुजर जाने के बाद धन्य ने पतोहुओं से धान के दानों को लौटाने के लिए कहा ।

पहले उज्भिका आई । उसने अपने ससुर के कोठार में से धान के पांच दाने लाकर ससुर जी के सामने रख दिये । उसने कहा कि उन दानों को उसने फेंक दिया था । भोगवती ने कहा कि वह दानों का छिलका उतार कर खा गयी थी । रक्षिका ने अपनी पिटारी खोल उसमें से धान के पांच दाने निकालकर ससुर जी के हवाले किये । रोहिणी ने उन दानों को लाने के लिए गाड़ी मंगवाने को कहा ।

ससुर ने कहा कि क्या पांच दानों के लिए भी गाड़ी की जरूरत पड़ती है ? इस पर रोहिणी ने सारा हाल सुना दिया। गाड़ी-भर धान धन्य के कोठार में पहुंचा दिये गये।

धन्य रोहिणी से बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसे घर-बार की मालकिन बना दिया। रक्षिका को कोष की स्वामिनी, भोगवती को रसोई-घर की देखभाल करने वाली और उज्झिका को घर की साफ-सफाई करने में नियुक्त कर दिया।

सारांश : जो श्रमण-निग्रंथ महाव्रतों का त्याग कर देते हैं, वे उज्झिका (त्याग कर देने वाली) की भांति संघ द्वारा तिरस्कृत होते हैं और अधोगति प्राप्त करते हैं।

जो श्रमण-निग्रंथ पांच महाव्रतों को ग्रहण करने के बाद भी केवल आजीविका के लिए उनका पालन करते हैं, वे भोगवती (भोगने वाली) की भांति मोक्ष से वंचित होकर अधोगति पाते हैं।

जो श्रमण-निग्रंथ पांच महाव्रतों की रक्षा में रक्षिका (रक्षा करने वाले) की भांति सचेष्ट रहते हैं, वे संघ द्वारा पूज्य होते हैं और मनुष्य जन्म को सार्थक करते हैं।

जो श्रमण-निग्रंथ पांच महाव्रतों के संवर्धन में रोहिणी (उगाने वाली) की भांति सजग रहते हैं, वे संघ द्वारा वंदनीय बनकर निर्वाण-पद प्राप्त करते हैं।

अर्थ-प्रधान कथा-कहानियां भी जैन-साहित्य में प्रचुर मात्रा में लिखी गयीं। इसका मुख्य कारण था जैन-धर्मावलंबियों का व्यापारी पेशा और इस पेशे का महत्व। तरुणजनों में रिवाज चल पड़ा था कि वे अपने बाप-दादाओं की कमाई पर निर्भर न रहकर अपने पुरुषार्थ द्वारा धन का अर्जन करें। अर्थोपार्जन के लिए वे देश-विदेश की साहसिक यात्राएं करते जब कि समुद्र-यात्रा करते हुए मगरमच्छ और विशालकाय मछलियों की टक्कर से जहाज के उलट जाने की आशंका रहती, अटवियां पार करते समय जंगली जातियों, चोर-डाकुओं और हिंसक पशुओं का भय बना रहता, बड़े-बड़े खीलों को पकड़ कर दुर्गम पर्वतों पर चढ़ना पड़ता और

टेढ़े-मेढ़े संकरे रास्तों को बकरों की पीठ पर सवार होकर बड़े कष्ट से पार किया जाता। मार्ग की थकान मिटाने वाले रोचक आख्यान, पोत-वणिकों की साहसपूर्ण कथाएं, व्यापारियों की भाषा, लेनदेन, विभिन्न देशों की संस्कृति, रीति-रिवाज और आचार-विचार, सभी कुछ इन कथाओं को रोमांचकारी बनाने में सहायक होता। इस दृष्टि से वसुदेवहिंडि में उल्लिखित चंपा के वणिक्-पुत्र चारुदत्त की कथा पठनीय है।

कथा-साहित्य का निर्माण केवल प्राकृत और संस्कृत भाषाओं में ही नहीं, अपभ्रंश और मध्यकालीन जूनी गुज़राती, राजस्थानी और पुरानी हिंदी में भी हुआ। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के क्रमिक विकास की दृष्टि से भी इस साहित्य का अध्ययन अत्यंत महत्वपूर्ण है।

इस समय दक्षिण भारत भी जैन धर्म का केंद्र बन चुका था जिसके फलस्वरूप जैन विद्वानों ने कन्नड़, तमिल और तेलुगु के साहित्य को समृद्ध बनाया, विशेषकर कन्नड़ और तमिल भाषाओं को साहित्य और शैली की दृष्टि से ऊंचा उठाया। इन भाषाओं के अध्ययन के लिए जैन विद्वानों ने महाकाव्य, व्याकरण एवं कोष-ग्रंथों का निर्माण किया। पंप, रन्न और पोन्न जैसे जैन-कवियों की कृतियां केवल कन्नड़ साहित्य की ही नहीं अपितु भारतीय साहित्य की बहुमूल्य निधि हैं।

ज्ञान-भंडारों की स्थापना

इस विपुल साहित्य का अध्ययन करने के लिए, खासकर उस युग में जबकि छापेखाने का प्रचार नहीं था, देश भर में पुस्तक-भंडारों की आवश्यकता थी। इस कमी को पूरा किया जैन संघ ने उत्तर और दक्षिण के अनेक भागों में जैन भंडारों की स्थापना करके। पहले तो ग्रंथों का लिखना और लिखवाना ही कष्टसाध्य था, और यह कार्य किसी तरह पूरा भी हुआ तो आग, जल, चोर, चूहे और दीमकों आदि से ग्रंथों की रक्षा करना और भी कठिन था। इसके लिए जैन आचार्यों ने श्रुतिपंचमी अथवा ज्ञानपंचमी को एक पुनीत पर्व घोषित किया जबकि शास्त्रों के पूजन, अर्चन, उनके झाड़ने, पोंछने, लिखने और लिखाने आदि का कार्य बड़े

उत्साहपूर्वक किया जाने लगा। जैसलमेर, खंभात, पाटण, जयपुर, कारंजा, मूड़बिद्री आदि अनेक स्थानों में इस प्रकार के ग्रंथ-भंडार स्थापित किये गये। इनमें केवल जैनधर्म के ही नहीं, बौद्ध एवं वैदिक ग्रंथ भी सुरक्षित रक्खे गये। हिंदुस्तान के सैकड़ों शहरों में फैले हुए इन भंडारों में ताड़पत्र, कागज और कपड़े पर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड़, तमिल, गुजराती हिंदी, मराठी और फारसी भाषा में लिखे हुए जैन, बौद्ध और वैदिक धर्मों के ऐसे अनेक दुर्लभ ग्रंथ मिले हैं जिनके मिलने की आशा नहीं रह गयी थी। कितने ही ग्रंथ ऐसे उपलब्ध हुए हैं जो विशेषकर गुजराती भाषा के क्रमिक एवं शृंखलाबद्ध इतिहास के अध्ययन के लिए अनिवार्य सिद्ध हुए हैं। भारतीय संस्कृति और साहित्य की रक्षा करने के हेतु जैन श्रमणों और श्रावकों द्वारा किया हुआ यह प्रयास स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है।

कला के क्षेत्र में

कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में भी जैन धर्मानुयायियों का योगदान रहा है। जैन मंदिरों का निर्माण उन दिनों सामाजिक आवश्यकता समझी जाती थी। मंदिरों में एकत्र होकर लोग तीर्थंकर भगवान का भजन-पूजन करते, शास्त्रों का स्वाध्याय करते और रथयात्रा निकालते, क्षमावाणी का पर्व मनाते और साधु-संतों के व्याख्यानों का आयोजन करते। इस दृष्टि से उत्तर और दक्षिण भारत में मंदिरों, मठों और देरासरों का निर्माण किया गया। इस निर्माण-कार्य में जैन राजाओं, मंत्रियों, श्रेष्ठियों, और व्यापारियों का विशेष योग रहा है जिन्होंने समय-समय पर मंदिरों के लिए जमीन तथा ग्राम आदि प्रदान कर अपनी धर्मनिष्ठा का परिचय दिया। राजस्थान में आबू पहाड़ पर वस्तुपाल और तेजपाल द्वारा संगमरमर को तराश कर बनाए हुए देलवाड़ा के मंदिर कला-कौशल की दृष्टि से अनुपम हैं। सौराष्ट्र में शत्रुंजय पहाड़ी पर छोटे-बड़े सैकड़ों मंदिर बने हुए हैं। यहां का आदिनाथ का मंदिर प्रख्यात है जो पश्चिमी भारत में 10 वीं शताब्दी की मूर्तिकला का सुंदर नमूना है। श्रवणबेलगोला की सुप्रसिद्ध गोम्मटेश्वर बाहुबलि की विशालकाय मूर्ति के बारे में कहा जा

चुका है जिसे राजा राजमल्ल के मंत्री और सेनापति चामुण्डराय ने 10 वीं शताब्दी में बहुत सा द्रव्य खर्च करके बनवाया था। यहां बड़ी धूमधाम से महामस्तकाभिषेक का उत्सव मनाया जाता है। आगे चलकर कारकल और वेनूर में भी बाहुबलि की मूर्तियां बनाई गयीं। मूडबिद्री अपने चंद्रनाथ के मंदिर के लिए प्रसिद्ध है जिसका निर्माण 14 वीं शताब्दी में हुआ। मंदिर के प्रांगण में एक सुंदर प्रभावोत्पादक मानस्तंभ खड़ा हुआ है। कुषाण-कालीन मथुरा के सुप्रसिद्ध जैन स्तूप के बारे में कहा जा चुका है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियां, धातु की मूर्तियां, गुफाएं, मानस्तंभ, भित्तिचित्र, ताड़पत्रीय चित्र, काष्ठचित्र, आदि का निर्माण जैनों ने किया। इस प्रकार 9 वीं शताब्दी से लेकर 11 वीं और उसके बाद की शताब्दियों में जैन कला के माध्यम से जैनधर्म के प्रचार एवं प्रसार में काफी उन्नति हुई। परिणामस्वरूप नगर के कोलाहल से दूर पहाड़ियों पर, और प्राकृतिक सुषमा से भरपूर निर्जन स्थानों में जैन तीर्थक्षेत्रों की स्थापना की गयी। इन स्थानों पर शिलालेख आदि के रूप में जो पुरातत्व संबंधी सामग्री उपलब्ध हुई है, उससे तत्कालीन सामाजिक धार्मिक और राजनीतिक पहलुओं पर भी प्रकाश पड़ता है।

अहिंसा की व्यापकता

महावीर और बुद्धकालीन धर्माचार्य अपनी सीधी सादी समझ में आने वाली बातों को जन सामान्य तक पहुंचाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। इसे वे अपना धर्म समझते थे। उनका एक मात्र उद्देश्य रहता कि सामान्य जनता न्याय और नीति का अवलंबन करते हुए सुख और शांति का जीवन व्यतीत करे। इस दृष्टि से अहिंसा का उपदेश हितकारी था। अहिंसा का अर्थ यही कि दूसरों को कष्ट न पहुंचाओ, स्वार्थ के पोषण के लिए शोषण वृत्ति का त्याग करो और जैसा तुम चाहते हो कि दूसरे तुम्हारे साथ बर्ताव करें वैसा तुम भी दूसरों से करो। इसी से दुनिया में सुख और शांति रह सकती है। जितनी आवश्यकता हो उतना ही लो, अपनी इच्छाओं पर अंकुश रक्खो, दूसरों के सुख-साधनों को देखकर विचलित मत बनो।

यदि ऐसा नहीं कर सकते तो अहिंसा का पालन नहीं हो सकता। वस्तु के संग्रह की इच्छा पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष और कलह को जन्म देती है जिसकी चरम परिणति है पारस्परिक संघर्ष—विश्व में होने वाले युद्ध। इसको रोकने के लिए बौद्धिक संतुलन की आवश्यकता है जिसे आज के युग में हम खो बैठे हैं। यदि हम ऊपर-ऊपर से, विवेक बुद्धि के बिना, अहिंसा का पालन करना चाहें तो सफलता न मिलेगी। इसके लिए राग अथवा द्वेषवृत्ति का त्यागकर धीरज के साथ दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की आवश्यकता है। मानसिक सहिष्णुता द्वारा ही समाज सुख और शांति की ओर अग्रसर हो सकता है। भगवान महावीर का वाक्य है : "शांति से क्रोध को जीतो, नम्रता से अभिमान को जीतो, सरलता से माया को जीतो और संतोष से लोभ को जीतो।" ऐसी वृत्ति हो जाने के बाद ही "सब प्राणियों के प्रति मैत्री, गुणिजनों के प्रति प्रमोद तथा विपरीत जनों के प्रति मध्यस्थता" की भावना पैदा हो सकती है।

अहिंसा का व्यावहारिक पक्ष

हमारे युग में महात्मा गांधी अहिंसा के प्रबलतम समर्थक रहे हैं। हिंदुस्तान के स्वातंत्र्य आंदोलन को जनता तक पहुंचाने के लिए उन्होंने अहिंसा का एक राजनैतिक हथियार के रूप में जो प्रयोग किया है, वह विश्व के इतिहास में बेजोड़ है। गांधीजी के लिए सत्य सबसे बड़ा ईश्वर है और सत्य का साक्षात्कार अहिंसा के बिना संभव नहीं। शाकाहारी भोजन, उपवास, आत्मशुद्धि, कष्ट-सहिष्णुता और क्षमा को उन्होंने अहिंसा के लिए अनिवार्य कहा है। उनकी मान्यता है कि किसी पर तलवार चलाने की अपेक्षा अहिंसक बने रहने में अधिक बहादुरी की आवश्यकता है। अहिंसा का अर्थ है किसी से बदला लेने की भावना के ऊपर जान-बूझकर कर लगाया हुआ नियंत्रण; और यह कोई आसान काम नहीं। महात्मा गांधी जैनधर्म की अहिंसा से प्रभावित थे। सौराष्ट्र के रहने वाले संत राजचंद्र भाई (श्रीमद् राजचंद्र) के घनिष्ठ परिचय में वे आये थे। राजचंद्र भाई ने गांधीजी के दक्षिण अफ्रीका के आवास-काल में उनकी

शंकाओं का निवारण कर उन्हें हिंदूधर्म में स्थिर किया था। इस संदर्भ में भारत के बाहर अहिंसा के सिपहसालार नोबुल-पुरस्कार विजेता अल्बर्ट स्वाइत्सर (1875-1965) का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा जिन्होंने 'जीओ और जीने दो' के सिद्धांत को कार्यान्वित करने के लिए अपना सर्वस्व लगा दिया। उनका कथन था कि हमें एक-दूसरे की आवश्यकता है, अतएव पारस्परिक श्रद्धा, निष्ठा एवं प्रणति की भावना के बिना जीवन अधूरा ही समझा जायेगा।

महावीर का धर्म सबके लिए

भगवान महावीर का उपदेश किसी जाति या संप्रदाय विशेष के लिए नहीं। उनका धर्म 'निर्ग्रंथ धर्म' कहलाता था, अर्थात् ऐसा धर्म जिसके अनुयायियों के मन में किसी प्रकार की ग्रंथि अथवा गांठ न हो। 'जैन' का अर्थ भी यही है; 'जिन' के अनुयायी को जैन कहते हैं, और 'जिन' वह है जिसने अपनी राग-द्वेष वृत्तियों पर विजय पा ली हो। दूसरे शब्दों में, जो कोई दूसरों को कष्ट पहुंचाने वाली अपनी वृत्ति को त्याग दे, अपनी आवश्यकताओं को कम करे और दूसरे के दृष्टिकोण को समझने के लिए सचेष्ट रहे वह महावीर के धर्म का अनुयायी कहे जाने का हकदार है। इस हक को पाने में किसी प्रकार की जाति, संप्रदाय अथवा लिंगभेद बाधक नहीं। महावीर के युग में ब्राह्मण और क्षत्रियों के अलावा अनेक गृहपति (खेती करने वाले वैश्य), कुम्हार, लुहार, जुलाहे, माली आदि कर्मकर भगवान महावीर के अनुयायी बने। और कितने ही म्लेच्छों, चोर-डाकुओं, मच्छीमारों, चांडाल-पुत्रों और वेश्याओं को उन्होंने अपने धर्म में दीक्षित किया था दक्षिण भारत की चतुर्थ अथवा सत्शूद्र तथा पंचम कही जाने वाली जैनों की जाति इस बात का प्रबल प्रमाण है कि भगवान महावीर के धर्म का द्वार सबके लिए खुला था। मतलब यह कि केवल जैन कुल में जन्म लेने मात्र से कोई जैन नहीं होता, जैन वही है जो भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित 'निर्ग्रंथ धर्म' का पालन करता हो—अहिंसा और अनेकांत के रहस्य को समझकर उस पर आचरण करता हो।

जैनधर्म की अहिंसा ने किसी न किसी रूप में भारतवासियों को प्रभावित किया है, चाहे वह प्रभाव उनके आचार-विचार में हो और चाहे उनके चिंतन में। प्राणिमात्र के प्रति अहिंसक वृत्ति, समस्त प्राणियों के प्रति समन्वय बुद्धि—यह जैन-धर्म की विशेषता रही है। इसी उदार वृत्ति के कारण जैनधर्म भारत में आज भी सुरक्षित रूप से टिका हुआ है।

आज हम ऐसे समाज की खोज में हैं जहां शोषण-वृत्ति न हो, ऊंच-नीच की भावना न हो, और अपने विकास के लिए हर किसी को पर्याप्त अवसर मिले। ऐसा समाज स्थापित हो जाने पर ही हम दुनिया में सबके साथ मिल जुलकर रह सकते हैं, एक दूसरे के प्रति निष्ठा की भावना रख सकते हैं। भगवान महावीर का बताया हुआ निर्ग्रंथ धर्म ऐसे समाज की स्थापना के लिए हमें अनुप्राणित करता है।